आचार्य कुन्दकुन्द

रयणसार

श्री गोमटेश्वर सहस्राब्द महामस्तकाभिषेक–१९८१ ई.
के शुभ-स्वस्तिकर अवसर पर प्रकाशित
श्रमणबेलगोल, कर्नाटक

वाचना-प्रमुख : स्वस्ति श्री चारुकीर्ति
संपादन : बलभद्र जैन

आवरण : संतोष जड़िया

प्रथम आवृत्ति, अगस्त १९७९

मूल्य : स्वाध्याय

प्रकाशन :
मैनादेवी जैन
धर्मपत्नी ताराचन्द जैन
मालिक फर्म–युनाइटेड ऑटो स्टोर्स,
जयपुर (राजस्थान)

प्राप्ति स्थान :
युनाइटेड ऑटो स्टोर्स,
मिर्जा इस्माइल रोड,
जयपुर (राज.)
३०२००१

रयणसार : आचार्य कुन्दकुन्द
Rayansar : Acharya Kundkund
Religion and Philosophy 1979

मुद्रण :
नई दुनिया प्रेस, इन्दौर

पुरोवाक्

श्रुत की उत्पत्ति

इस भरत क्षेत्र में ढाई हजार वर्ष पूर्व अन्तिम तीर्थंकर परम भट्टारक भगवान् महावीर अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त तत्त्वों और मोक्ष-मार्ग का स्वरूप भव्य जीवों के कल्याण के लिए प्रकट कर रहे थे। उनके निर्वाण के पश्चात् उनके मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी और तदनन्तर पाँच श्रुत-केवलियों ने मोक्ष-मार्ग की इस परम्परा को अविच्छिन्न रूप से सुरक्षित रक्खा। श्रुत-केवलियो के पश्चात् आचार्य-परम्परा में दो समर्थ आचार्य हुए—एक, आचार्य धरसेन, दूसरे, आचार्य गुणधर।

आचार्य धरसेन आग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तु अधिकार के महाकर्म प्रकृति नामक चतुर्थ प्राभृत के ज्ञाता थे। उन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो व्युत्पन्न मुनियों को अपना ज्ञान प्रदान किया, जिन्होंने अध्ययन सम्पूर्ण होने पर षट्खण्डागम नामक शास्त्र की रचना की। इसी परम्परा में धवल, जयधवल, महाधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रन्थों की रचना हुई। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध की उत्पत्ति हुई। इसमें पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से जीव और कर्म के संयोग से आत्मा की संसार-दशा, कर्मसिद्धान्त, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि की चर्चा की गयी है।

श्री गुणधर आचार्य को ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के तृतीय प्राभृत का ज्ञान था। उन्होंने कसाय पाहुड की रचना की। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध की उत्पत्ति हुई। इसी परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द हुए, जिन्हें श्रुत-परम्परा और आचार्य-परम्परा से भगवान् महावीर से चला आ रहा ज्ञान विरासत में मिला। उन्हें दसवें वस्तु अधिकार के 'समय पाहुड' का ज्ञान था। इसी अविच्छिन्न ज्ञानामृत प्रवाह में से समय-सार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि शास्त्र-रत्न प्रकट हुए। इस श्रुत-स्कन्ध में द्रव्यार्थिक नय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कथन है।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समय

आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म-रसिक और आत्मानुभवी महर्षि थे। उनकी रचनाओं में आत्मानुभव का अमृत छलकता हुआ दिखायी देता है। समय-सार में

उन्होंने इस तथ्य को 'तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण' कहकर उजागर किया है। यह स्ववैभव उनकी स्वानुभूति अथवा आत्मानुभूति ही है। उनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है, मानो ये सभी रचनाएँ उन महर्षि के सहजानन्द की अमृत-सीकरों में किलोल करते हुए और द्रव्य के साथ पर्यायों की एकता साधते-साधते स्वतः अनुस्यूत हो गयी हैं। उनके समरसीभाव का अमृत उनकी रचनाओं में प्रवाहित हुआ है। उनकी सभी रचनाओं की यह विशेषता है कि उनका पाठक भी उनमें प्रवाहित आत्मानुभूति और सहजानन्द के अमृत का अनुभव करने लगता है।

आचार्य कुन्दकुन्द लोकोत्तर व्यक्तित्व के युगप्रवर्तक आचार्य थे। जैन संघ की परम्परा में एक युग भगवान् महावीर से लेकर अंगपाठी आचार्यों तक का माना जाता है। जबकि दूसरे युग का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द से हुआ। पूर्व युग के आचार्यों ने वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करके और लोककल्याणकारी उपदेश देकर जैन संघ के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया; जबकि उत्तर युग के प्रारम्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने इसके साथ-साथ जैन संघ को विकारों और प्रहारों से सुरक्षित रखने के दायित्व का भी निर्वाह किया। उन्होंने भगवान् महावीर के संघ के मूल रूप की भी सफलतापूर्वक रक्षा की। परवर्ती आचार्यों ने कुन्दकुन्द के प्रति अपनी कृतज्ञताज्ञापन के लिए उस संघ को मूलसंघ के रूप मे अभिहित किया। इतना ही नहीं, उसको एक नाम और प्रदान किया—कुन्दकुन्दान्वय। निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा मे समय के प्रभाव से अनेक संघ, गण और गच्छ बन गये; किन्तु यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि इनके सभी आचार्यों ने अपने आपको मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय के साथ संपृक्त घोषित किया और मंगल चतुष्टय में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् कुन्दकुन्द को मंगल-स्थान प्रदान किया।* कुन्दकुन्द के लोकोत्तर व्यक्तित्व और अचिन्त्य प्रभाव का ही यह परिणाम है। कुन्दकुन्द की असंदिग्ध प्रामाणिकता का एक प्रमाण यह है कि सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने कुन्दकुन्द की रचनाओं का प्रमाणरूप मे उल्लेख किया है अथवा कथ्य का अनुवर्तन किया है।

किन्तु इतने महान् व्यक्तित्व के आगार कुन्दकुन्द का कोई प्रामाणिक इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होता। उनके जीवन-परिचय के लिए विभिन्न पट्टावलियों, कथाकोशों, शिलालेखों और दर्शनसार आदि कतिपय ग्रन्थों से यत्किञ्चित सहायता मिलती है। यह सम्पूर्ण साहित्य ८-९वी शताब्दी के बाद का है।

---

* मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

इनके अनुसार कुन्दकुन्द का जन्म कुन्दकुन्दपुरम् (प्रचलित नाम कोण्डकुन्दी) जिला गुण्टूर, तमिलनाड प्रदेश में शार्वरी नाम संवत्सर माघ शुक्ला ५; ई. पूर्व १०८ में हुआ था। उन्होंने ११ वर्ष की अल्पायु में श्रमण मुनि-दीक्षा ली। ३३ वर्ष तक मुनि-पद पर रहे और ४४ वर्ष की आयु में (ई. पू. ६४) चतुर्विध संघ ने उन्हें आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया। वे ५२ वर्ष १० माह १५ दिन इस पद पर विराजमान रहे। उन्होंने ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की दीर्घायु[1] पायी और ई. पू. १२ में[2] समाधिमरण द्वारा स्वर्गारोहण किया।

कुन्दकुन्द की ख्याति और प्रभाव के कारण उनके साथ अनेक किम्वदन्तियाँ जुड़ गयी हैं। यथा–

१. कुन्दकुन्द ने विदेह क्षेत्र मे सीमन्धर भगवान के मुख से सात दिन तक दिव्यध्वनि[3] सुनी थी। आकाश-मार्ग से वापिस आते हुए मार्ग में उनकी पिच्छी कही गिर गयी; तब वही भूमि पर उतर कर वहाँ पड़े हुए गिद्ध पक्षी के पंखों को एकत्रित किया और उसकी पिच्छी बनायी।

२. कुन्दकुन्द चारण ऋद्धिधारी थे और पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर चलते[4] थे।

३ संघ-सहित गिरनार क्षेत्र पर जाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द का श्वेताम्बरों के साथ शास्त्रार्थ हो गया। मध्यस्थ बनायी वहाँ की अम्बिका देवी। देवी की पाषाण-मूर्ति मे से निर्घोष हुआ–सत्य पंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर[5]।

४. कुन्दकुन्द वारानगर (वाराँ, जिला कोटा, राजस्थान) के कुन्द श्रेष्ठी और सेठानी शकुन्तला के पुत्र थे।[6]

५–दक्षिण देश के कुरुमलई ग्राम मे करमण्डु नामक सेठ के यहाँ मणिवरन नाम का एक ग्वाला रहता था जिसे दावानल से जलते हुए जंगल में

---

१. दिगम्बर पट्टावलियों के आधार पर प्रो. हार्नले द्वारा आचार्यश्री के जीवन का निर्णीत काल—Indian Antiquary, Vol. XX, XXI; डॉ. ए एन. उपाध्ये—Historical Introduction to Panchasti Kaya Sar, P. 5, भारतीय ज्ञानपीठ।

२. डॉ. राजबली पाण्डे, विक्रमादित्य, पृ. १६१

३. आचार्य देवसेन, दर्शनसार (वि. स. ६६०); ज्ञानप्रबोध।

४. कुप्पटुर का शक सवत् ६६७ का लेख; श्रवणबेलगोल शिलालेख, शक स. १०५०, १०८५, १२३५

५. ज्ञानप्रबोध

६. ज्ञानप्रबोध

सुरक्षित शास्त्र मिले। वह उन्हें उठा लाया और मुनियों को भेंट कर दिया। इसी शास्त्र-दान के प्रभाव से वह ग्वाला उपरोक्त सेठ के घर में कुन्दकुन्द नाम का पुत्र[1] हुआ।

६. उपर्युक्त कथा से मिलती-जुलती एक अन्य कथा है। उसमें केवल ग्वाले गोविन्द है, जो मरकर कौण्डेश नाम का राजा[2] हुआ।

७ कुन्दकुन्द ने महाराज शिवकुमार के प्रतिबोध के लिए पचास्तिकाय का नाम प्राभृत की रचना[3] की।

उपर्युक्त सभी बाते महत्त्वपूर्ण है; किन्तु अभी अधिकृत स्रोतो और आधारो से इनकी प्रामाणिकता की पुष्टि होना शेष[4] है।

कुन्दकुन्द के गुरु

कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे, यह अभी निश्चित नही हो पाया। बोध पाहुड मे स्वय कुन्दकुन्द ने एक स्थान पर अपने-आपको भद्रबाहु का शिष्य बताया है और दूसरे स्थान पर उन्हे अपना गमक गुरु माना है। नन्दिसंघ की पट्टावलि में जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु माना है तथा पचास्तिकाय की टीका मे आचार्य जयसेन ने कुमारनन्दि को उनका गुरु बताया है।

भद्रबाहु कुन्दकुन्द के परम्परा गुरु थे, साक्षात् गुरु नही थे। शेष दो आचार्यों मे से कुन्दकुन्द के कौन गुरु थे, यह निर्णय नहीं हो सका है। संभव है, इनमे से एक दीक्षागुरु हों और दूसरे विद्यागुरु।

---

१. पुण्यास्रव कथा कोश।

२. आराधना कथा कोश।

३. आचार्य जयसेन कृत पचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति टीका।

४. कुन्दकुन्द का विदेह क्षेत्र जाने की बात विश्वसनीय नही जान पडती, क्योकि सिद्धान्त ग्रंथो—गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २३६ और प. टोडरमलजी कृत उसकी टीका के अनुसार कोई प्रमत्त सयत मुनि औदारिक शरीर से अन्य क्षेत्र मे नही जा सकता।

चारण ऋद्धि की बात भी नही जँचती, क्योकि पचम काल मे चारण ऋद्धि होती नही। गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बरो के साथ शास्त्रार्थ आचार्य कुन्दकुन्द का नही, चौदहवीं सदी के भट्टारक पद्मनन्दी का हुआ था।

बारानगर मे उत्पन्न होने की बात भी सत्य के निकट नही है। वस्तुत बारानगर के पद्मनन्दी जम्बूद्वीप पण्णत्ति के कर्ता हैं, न कि कुन्दकुन्द। यही बात शेष कथाओ के बारे मे भी है।

कुन्दकुन्द के नाम

कुन्दकुन्द के पाँच नाम प्रसिद्ध हैं—पद्मनन्दी, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ और एलाचार्य । ये नाम पट्टावलियों,[1] शिलालेखों और ग्रन्थों[2] में भी मिलते हैं। इनमें उनके मुनि-पद का आद्यनाम पद्मनन्दी[3] था । उनका कोण्डकुण्ड नाम उनकी जन्म-भूमि कोण्डकुण्डे के नाम पर पड़ गया और वही बिगड़ते-बिगड़ते कुन्दकुन्द हो गया।

वक्रग्रीव नाम किसी रोग के कारण उनकी ग्रीवा वक्र होने के कारण पड़ गया । श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. ५५ (शक सं १०१२) मे वक्रगच्छ की आचार्य-परम्परा दी है । संभवत: यह वक्रगच्छ कुन्दकुन्द के वक्रग्रीव नाम के आधार पर प्रचलित हुआ है।

गृद्धपिच्छ नाम का सम्बन्ध प्राय: उस घटना से जोड़ा जाता है, जिसके अनुसार मयूरपिच्छी कही गिर जाने पर कुन्दकुन्द ने गिद्ध के पंखों की पिच्छी बनायी थी; किन्तु एक तो इस घटना की प्रामाणिकता अभी सदिग्ध है, दूसरे गृद्धपिच्छाचार्य का पद उमाचार्य के लिए भी शिलालेखो आदि में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु उमाचार्य का यह नाम किस घटना के कारण पड़ा, ऐसा कोई उल्लेख देखने में नही आया । हमारी विनम्र सम्मति मे इस नाम का सम्बन्ध गिद्ध के पखों की पिच्छी के साथ नही है, बल्कि अन्य ही है। कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो में कई स्थानो पर बल देकर यह कहा है—'णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं' अर्थात् पिच्छीहीन मुनि को निर्वाण नही होता । लोगो ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि कुन्दकुन्द पिच्छी के प्रति अत्यन्त गृद्ध[4] (आसक्त) है; अतः उनको 'गृद्धपिच्छ' कहने लगे। यही बात उमास्वाति के सम्बन्ध मे भी चरितार्थ होती है।

---

१. ततोऽभवत्पञ्च सुनामधामा, श्री पद्मनन्दी मुनि चक्रवर्ती ।
आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो, वक्रग्रीवो महामनि । एलाचार्यो गिद्धपिच्छ. पद्मनन्दीति विश्रुत ।।
—नन्दिसघ गुर्वावलि

२. स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ।
आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो, वक्रग्रीवो महामति । एलाचार्यो गिद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ।।
—षट्प्राभृत के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर

३—तदन्वये भूविदिते बभूव, य पद्मनन्दी प्रथमाभिधान ।
श्री कोण्डकुण्डादि मुनिश्वराख्यस्तत् सयमादुद्गत चारणर्द्धि ।।
—शक स १०८५ का शिलालेख

श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य शब्दोत्तर कोण्डकुण्ड ।।
—शिलालेख न ४१, शक स १२३५

दर्शनसार के रचयिता आचार्य देवसेन ने भी कुन्दकुन्द का नाम पद्मनन्दी दिया है।

४. गिद्ध—आसक्त, लोलुप —पा स म , पृ. २६४

पाँचवें नाम एलाचार्य के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ी भ्रान्ति है। वे इसे नाम समझते हैं, जबकि यह वस्तुतः कुन्दकुन्द का एक पद था। कुछ विद्वान् कहते हैं कि एल शब्द अ+चेल से बना है। प्राकृत में अचेल का रूप अ+एल बनता है और वही सन्धि होकर एल बन गया। इस प्रकार एलाचार्य का अर्थ अचेलाचार्य हैं।

कुछ विद्वानों की कल्पना है कि एलवंशी सम्राट खारवेल और कुन्दकुन्द न केवल समकालीन थे, बल्कि कुन्दकुन्द एल नरेश के गुरु थे। खारवेल ने हाथी गुम्फा शिलालेख में उल्लिखित जो मुनि-सम्मेलन कुमारी पर्वत पर आयोजित किया था, वह कुन्दकुन्द के परामर्श से और उनकी अध्यक्षता में ही हुआ था, अतः एल सम्राट के गुरु होने के कारण उन्हें एलाचार्य कहा जाने लगा।

इस प्रकार की कई कल्पनाएँ इस पद के लिए की गयी है, किन्तु वस्तु स्थिति कुछ और ही है—

शास्त्रों मे कई प्रकार के आचार्यों का उल्लेख आया है—जैसे गृहस्थाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य, बालाचार्य, निर्यापकाचार्य, एलाचार्य। भगवती आराधना-गाथा १७७ की टीका मे बताया है—'अनुगुरो. पश्चाद्दिशति विधतेचरणक्रममित्यनु-दिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना' अर्थात् गुरु के पश्चात् जो मुनि चारित्र का क्रम मुनि, आर्यिकादि को कहता है, उसको अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (पृ २५३) के अनुसार एलाचार्य होता है। प्रायश्चित्त ग्रन्थों मे एलाचार्य के सम्बन्ध मे उल्लेख है कि—

> एलायरियस्स दिणाण दस आयरियस्स पण्णरसदिवसा ।
> ह्विज्जंति पग्गणगयस्स पुण दसपण्णरसवीसदिणा ॥
>
> —प्रायश्चित्त संग्रह, छेदपिण्ड, २५१

इसी प्रकार जिनेन्द्र पूजापाठ में 'एलाचार्याणां' तथा पं आशाधर कृत जिनेन्द्र पूजा पाठ-प्रशस्ति मे 'पूज्यपादं चेलाचार्यं' इस वाक्य द्वारा एलाचार्य का उल्लेख आया है। इस प्रकार एलाचार्य भी आचार्य का एक भेद है और यह पद कुन्दकुन्द को प्राप्त था; इसीलिए उनके नामो मे एक नाम एलाचार्य भी मिलता है।

कुन्दकुन्द और रयणसार

आचार्य कुन्दकुन्द की २४ रचनाएँ उपलब्ध होती है, जिनके नाम इस प्रकार है—

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, रयणसार, बारस अणुवेक्खा, मूलाचार, तिरुक्कुरल, दंसणपाहुड, चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड, सिद्धभक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाण-भक्ति, पंचगुरु-भक्ति, थोस्सामि थुदि।

इनमें मूलाचार, तिरुक्कुरल और रयणसार के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की मान्यता यह है कि ये ग्रन्थ कुन्दकुन्दकृत नहीं है। जहाँ तक रयणसार का सम्बन्ध है, इन विद्वानों के मुख्य तर्क ये है–

(१) इसकी भाषा गम्भीर एवं प्रौढ़ नहीं है।
(२) कथ्य व्यवस्थित नहीं है।
(३) इसमें अपभ्रंश भाषा के शब्द हैं।
(४) इसमे अनेक गाथाएँ प्रक्षिप्त लगती है।
(५) यह व्यक्ति-विरोध में लिखी हुई रचना है।
(६) इसमें दृष्टान्तो की भरमार है।

ये तथा इसी प्रकार के अन्य तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि रयणसार कुन्दकुन्द की रचना नहीं है। इन विद्वानों को सम्पूर्ण आदर देते हुए भी हमें लगता है कि इसमें मौलिक चिन्तन की अपेक्षा गतानुगतिकता की प्रवृत्ति ही अधिक परिलक्षित होती है। इन तर्कों के सम्बन्ध में हमारी विनम्र सम्मति इस प्रकार है–

(१) रयणसार की भाषा में उतनी ही गम्भीरता और प्रौढ़ता है, जितनी कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों मे। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की भाषा जैन शौरसेनी प्राकृत है; किन्तु जैन शौरसेनी प्राकृत की अ-जानकारी या उस ओर लक्ष्य न देने के कारण मुद्रित कुन्दकुन्द साहित्य की वर्तमान भाषा अत्यन्त भ्रष्ट और अशुद्ध है। यह बात केवल रयणसार के मुद्रित संस्करणों के सम्बन्ध में ही नहीं, कुन्दकुन्द के सभी प्रकाशित ग्रन्थों के बारे में है। वैसे कथ्य, भाषा, शैली और भावों की दृष्टि से रयणसार कुन्दकुन्द के अन्य सभी ग्रन्थों–विशेषत: पाहुड ग्रन्थों–से समानता रखता है। जैन शौरसेनी प्राकृत की सभी विशेषताएँ रयणसार में दृष्टिगोचर होती है।

(२) रयणसार अधिकारों में विभक्त नहीं है। यह एक प्रकीर्ण ग्रन्थ है; किन्तु इसमे सम्यग्दर्शन की मुख्यता से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा उनके अन्तर्गत श्रावक और मुनि के आवश्यक कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया हैं।

(३) कहा जाता है कि इसमें अपभ्रंश भाषा के शब्द है–जैसे भुल्लो, बोल्लदे, बोल्लदि आदि। और यह कि अपभ्रंश भाषा का प्रारम्भ प्राय: छठवीं-सातवीं शताब्दी से हुआ; अत: रयणसार इस काल के बाद की रचना

है। इसके उत्तर में निवेदन है कि जिन शब्दों को अपभ्रंश भाषा का कहा जाता है, वे वस्तुतः प्राकृत भाषा के शब्द है । 'पाइय सद्द महण्णवो' आदि प्राकृत शब्दकोशों[1] मे ये शब्द मिलते है। समयसार मे सेडिया आदि कुछ शब्द आये है जो वस्तुत महाराष्ट्री शब्द हैं; किन्तु जैन शौरसेनी महाराष्ट्री प्राकृत के अधिक निकट मानी गयी है और उसमें महाराष्ट्री के अनेक शब्द आत्मसात् किये गये है । जैन शौरसेनी के व्याकरण सम्बन्धी नियम भी सीमित हैं। प्राकृत-व्याकरणकारो ने अवशिष्ट भाषा-रूपों के बारे मे 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' इस सूत्र द्वारा व्यापक नियम बना दिया है ।

(४) यह भी कहा जाता है कि इसमें अनेक गाथाएं प्रक्षिप्त है । यह संभव हो सकता है, किन्तु किसी गाथा के सम्बन्ध मे यह विश्वासपूर्वक कहना कठिन है । मोटे तौर पर देखा जाए, तो कुछ प्रतियों मे (मुद्रित और हस्तलिखित) १५५ गाथाएं मिलती है और किन्हीं प्रतियो में १६७ मिलती हैं; किन्तु यह बात कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों मे भी मिलती है । समयसार की आत्मख्याति टीका के अनुसार ग्रन्थो में गाथाओं की संख्या ४१५ है तो तात्पर्य वृत्ति के अनुसार यह संख्या ४३७ है। इसी प्रकार प्रवचनसार की गाथा सख्या तत्त्वदीपिका के अनुसार २७५ है और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार ३११ है । बोधपाहुड की अन्तिम तीन गाथाओ के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का विवाद है ।

(५) कहते है, यह रचना व्यक्ति-विरोध मे लिखी गयी है, किन्तु यह तर्क निराधार है अथवा कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को न समझने के कारण है। रयणसार की गाथा १५७ से १५९ तक गण-गच्छ-संघ आदि के प्रति ममकार या व्यामोह को त्याज्य बताकर मुनि को रत्नत्रय की ही ओर उन्मुख होने की प्रेरणा आचार्य ने की है, न कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति आक्षेप। अन्य भी उल्लेख इसी प्रकाश में देखने चाहिये।

(६) यह भी आक्षेप किया जाता है कि इसमे दृष्टान्तों की भरमार है, जबकि वास्तव मे यह आक्षेप-योग्य न होकर प्रशंसा-योग्य बात है। दुरूह विषय को दृष्टान्तो द्वारा सुबोध बनाकर उपस्थित करना कुन्दकुन्द की विशेषता है । समयसार की ७६ गाथाओ मे ३७ दृष्टान्त दिये गये है । इसी शैली के अनुसार आचार्य ने रयणसार मे २७ गाथाओ में दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, जो अधिक नही कहा जा सकता ।

---

१. बोल्ल--बोलना, कहना —पा स म, पृ ६३६
भुल्ल--भूला हुआ —पा. स. म, पृ ६५६

सारांशत: कोई ऐसा प्रबल तर्क या समर्थ आधार नहीं है, जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जा सके कि रयणसार कुन्दकुन्द की रचना नही है। किसी विद्वान् ने ऐसा लिख दिया तो वह प्रमाण नही बन जाता, जब तक कि उसके पीछे ठोस आधार न हो। कुछ विद्वान् रयणसार को कुन्दकुन्द की रचना इसलिए नही मानना चाहते, क्योंकि इसमें श्रावकों को मुनियों के लिए आहार दान करने की प्रेरणा की गयी है। पक्ष-व्यामोह का इसमें भोंडा उदाहरण और क्या हो सकता है?

रयणसार का महत्त्व

रयणसार श्रावक और मुनियो के धर्म का निरूपण करने वाला एक सरल और सुबोध ग्रन्थ है। इसमें श्रावक के मुख्य कर्त्तव्यों मे दान और पूजा इन दो धर्मों को माना है तथा मुनियों के लिए ध्यान और अध्ययन (ज्ञान) ये दो मुख्य कर्त्तव्य बताये है; किन्तु ये सभी कर्त्तव्य तभी धर्म की संज्ञा पाते हैं; जबकि इनके मूल मे सम्यग्दर्शन का रसायन हो, अन्यथा तो ये भव-बीज ही है। सम्यग्दर्शन हो तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति इनके द्वारा हो सकती है। इस प्रकार शुद्धात्मोपलब्धि ही इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण कथन का मुख्य लक्ष्य है।

रयणसार श्रावक और मुनि दोनो की जीवन-शुद्धि का उद्बोधक ग्रन्थ है। यह हमारी भ्रान्त धारणाओ पर ऐसी मीठी चोट करता चलता है, जिससे हमारी दृष्टि का धुंध मिटने लगता है। एक ओर यह कहता है कि श्रावक को मुनि के लिए हित-मित आहार देकर ही भोजन करना चाहिये और आहार-दान के समय मुनि की जिन-मुद्रा देखना ही पर्याप्त है; दूसरी ओर मुनि के लिए उपदेश है कि तुम्हे इस नश्वर, अपावन शरीर की पुष्टि के लिए आसक्तिपूर्वक आहार नही करना है, बल्कि संयम की साधना के लिए शरीर की स्थिति बनी रहे, इसलिए आहार को औषधि के समान ग्रहण करना है। एक ओर तो कहता है कि शुभ और अशुभ दोनो ही भाव संसार-भ्रमण के कारण हैं, केवल मोह के क्षय से ही कर्मों का नाश सभव है, दूसरी ओर कहता है कि आत्मा के मात्र ज्ञान से मुक्ति नही मिलने वाली, न केवल सम्यक्त्व से ही मुक्ति मिलेगी, उसके साथ सम्यक्चारित्र का भी सम्बल होना चाहिये। केवल अर्हन्त और सिद्ध परमात्मा ही स्वसमय है; शेष चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो तरतमता से अन्तरात्मा है और वे सब परसमय है। इतना तत्त्वानुगामी यथार्थ कथन इस लघु ग्रन्थ मे किया गया है, मानो सरसो मे अमृत-सागर समाया हो।

इस ग्रन्थ का वांछित प्रचार समाज में नहीं हो पाया और न विद्वत्समाज में इसका समुचित मूल्यांकन ही हो पाया। यदि इसका विस्तृत तुलनात्मक

अध्ययन हो तो इस निष्कर्ष से सभी सहमत हो सकेंगे कि रयणसार कुन्दकुन्द की ग्रन्थमाला का एक ज्योति रत्न है ।

इसमें दो बार (गाथा क्रमांक ९०, १६२ में) पवयणसार का उल्लेख हुआ है। लगता है, आचार्य ने इस रूप में अपने प्रवचनसार ग्रन्थ का ही संसूचन किया है। यदि हमारा यह अनुमान सत्य हो तो मानना होगा कि रयणसार की रचना प्रवचनसार के पश्चात् हुई है ।

पाठ-संशोधन

इस ग्रन्थ का पाठ-संशोधन उन्हीं आधारों और लीकों पर किया है, जिन आधारो पर समयसार का पाठ-संशोधन किया था । इसके लिए अनेक ताड़पत्रीय, हस्तलिखित और मुद्रित प्रतियाँ संग्रह करके पाठो का मिलान किया और जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा के व्याकरण, छन्दशास्त्र के अनुसार मूल पाठ में संशोधन किया । जहाँ पाठ-भेद मिला, वहाँ प्रसंग, अर्थ-संगति और औचित्य के आधार पर पाठो का समायोजन किया । विभिन्न प्रतियों में गाथाओं की संख्या और क्रम में भी व्यतिक्रम है; उनका भी प्रसंगानुकूल समायोजन किया ।

इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने अनेक छन्दों का उपयोग किया है; अतः गाथाओं पर छन्द का नाम-निर्देश भी कर दिया है । यह ग्रन्थ अधिकारों में विभाजित नही है, किन्तु प्रकरणानुसार इसे सोलह शीर्षको मे विभाजित करके उसकी विषयानुक्रमणिका दे दी गयी है तथा पाठकों की सुविधा के लिए सम्पूर्ण ग्रन्थ का सार भी दे दिया गया है । इसे पढ़ने के वाद यदि ग्रन्थ का स्वाध्याय किया जाए तो ग्रन्थ को समझने में बहुत सुविधा होगी ।

जैन समाज और विद्वानों ने समयसार के पाठ-संशोधन की जो सराहना की थी, उसी से उत्साहित होकर मैं इस ग्रन्थ के पाठ-संशोधन के कार्य में प्रवृत्त हुआ । मुझे विश्वास है, समाज और विद्वानों को इससे सन्तोष होगा। यदि प्रमाद या अज्ञानतावश इसमें कोई त्रुटि रह गयी हो तो सहृदय विद्वान् मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे, जिससे आगामी संस्करण मे उनका संशोधन किया जा सके ।

आभार-प्रदर्शन

गत वर्ष नवम्बर माह के अन्तिम सप्ताह में पूज्य एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज ने दक्षिण की ओर मंगल-बिहार करते हुए दिल्ली की सीमा का त्याग किया था । मैं जब महाराज श्री के दर्शनार्थ गया था, तब श्रवणबेलगोल के भट्टारक पट्टाचार्य श्री चारुकीर्ति स्वामी ने मुझसे रयणसार ग्रन्थ के पाठ-संशोधन और सम्पादन का भार स्वीकार करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की थी। मुझ

पर पूज्य भट्टारकजी का स्नेह और कृपा रही है। उनकी इस इच्छा की पूर्ति का समर्थन पूज्य महाराजश्री ने भी किया। इन गुरुजनों की इच्छा को आदेश मानकर मैंने अविलम्ब यह भार स्वीकार कर लिया। पूज्य महाराज-श्री का सदा से मुझे आशीर्वाद और विश्वास प्राप्त रहा है। इस ग्रन्थ की मार्ग-दिशा मुझे आपसे ही प्राप्त हुई है। आपने इसे आद्योपान्त देखकर आवश्यक संशोधन आदि के निर्देश भी दिये; एतदर्थ मैं पूज्य महाराजश्री के प्रति अपनी भक्ति-पुष्पाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

मैं पूज्य भट्टारकजी के प्रति अपनी हार्दिक विनय निवेदन करता हूँ, जिनकी प्रेरणा का सम्बल इस ग्रन्थ के निर्माण का निमित्त बना।

मैं लाला पन्नालालजी अग्रवाल का भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने दिल्ली के शास्त्र-भण्डारो से रयणसार की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ लाकर मुझे दीं। मेरे प्रति लालाजी का सदा स्नेह-भाव रहा है।

इसके अतिरिक्त मैं श्री बाबूलालजी पाटोदी, मन्त्री, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपने लम्बे प्रकाशन-अनुभवो का पूरा-पूरा लाभ देकर इस ग्रन्थ के सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन का दायित्व सम्पन्न किया। लात्मक, नयनाभिराम, एवं निर्दोष मुद्रण के लिए जहाँ एक ओर मैं नई दुनिया प्रेस, इन्दौर के प्रबन्धक श्री हीरालालजी झाँझरी का अनुगृहीत हूँ, वहीं दूसरी ओर कलामर्मी श्री सन्तोष जड़िया का भी आभार मानता हूँ, जिन्होंने बहुत कम समय में एक भव्य-सार्थक आवरण की संरचना की ओर एक उपयुक्त रंग-योजना का सुझाव दिया। इसी तरह मैं "तीर्थंकर" के सम्पादक डॉ. नेमीचन्द जैन की कृतज्ञता स्वीकार करता हूँ जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर कष्टसाध्य प्रूफ संशोधित किये तथा ग्रन्थ की कलात्मक निष्पत्ति में योग दिया।

अन्त में मैं गुरुभक्त, धर्मपरायण सेठ ताराचन्दजी (मालिक फर्म-यूनाइटेड ऑटो स्टोर्स, जयपुर) के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ, जिनकी धर्म-प्रभावना और आर्थिक सहयोग के कारण यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

९/१२, मोती कटरा, आगरा—३ विनम्र
फाल्गुनी आष्टाह्निक पर्व; वी. सं. २५०५ **बलभद्र जैन**

सन्दर्भ प्रतियाँ

हस्तलिखित प्रतियाँ

१. दिगम्बर जैन सरस्वती भण्डार, धर्मपुरा, दिल्ली

क– वेष्ठन-संख्या ३२ । पत्र-संख्या ८½" आकार १२" × ७¾" । प्रत्येक पृष्ठ में १३ पंक्तियाँ। गाथा-संख्या १७० । लेखन-काल अनिर्दिष्ट । प्रति नवीन है ।

२ ख–वेष्ठन-क्रम-संख्या ३२ । पत्र-संख्या ८ । आकार १२" × ७¾" । प्रत्येक पृष्ठ मे १३ पंक्तियाँ । गाथा-संख्या १७० । लेखन-काल अनिर्दिष्ट । प्रति नवीन है ।

३ ग– वेष्ठन-क्रम-संख्या ३२ । पत्र-संख्या १० । आकार १०½" × ६" । प्रत्येक पृष्ठ मे ११ पंक्तियाँ । गाथा-मंख्या १७० । लेखन-काल अनिर्दिष्ट । प्रति नवीन है ।

४ घ–वेष्ठन-क्रम-संख्या ३२ । पत्र-संख्या १३ । आकार ९¾" × ४¾" । प्रत्येक पृष्ठ में औसतन ११ पंक्तियाँ । कुल २३६ पंक्तियाँ । गाथा-संख्या १५४ । लेखन-काल अनिर्दिष्ट है । प्रति प्राचीन है ।

५ जैन मठ, श्रवणबेलगोला–ताड़-पत्रीय प्रति । कन्नड़ अन्वयार्थ-सहित । कन्नड लिपि से नागरी लिपि में रूपान्तरित । गाथा-संख्या १५४ ।

६. दिगम्बर जैन मन्दिर, वैदवाड़ा, दिल्ली

क–वेष्ठन-क्रम-संख्या नही है । पत्र-संख्या ९ । आकार ८¾" × ४¾" । प्रत्येक पृष्ठ मे औसतन १२ पक्तियाँ । गाथा-सख्या १५५ । लेखन-काल वैशाख वदी २; संवत् १७७९ ।

७. वेष्ठन-क्रम-सख्या नही है । पत्र-संख्या ७ । आकार १४½" × ७½" । प्रति पृष्ठ ११ पक्तियाँ । गाथा-संख्या १७० । लेखन-काल वैशाख सुदी ९; संवत् १९७४ ।

८. दिगम्बर जैन मन्दिर, सेठ का कूचा, दिल्ली

वेष्ठन-क्रम-सख्या ८३ । पृष्ठ-संख्या ९ । आकार १०½" × ४¾" । प्रति पृष्ठ ११ पंक्तियाँ । गाथा-संख्या १७० । लेखन-काल आषाढ़ वदी १, संवत् १७९३ ।

मुद्रित प्रतियाँ

१. संपादक : डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री। प्रकाशक—कुन्दकुन्द भारती दिल्ली। गाथा-संख्या १५५।

२. संपादक . क्षु. ज्ञानसागरजी। प्रकाशक—दिगम्बर जैन समाज, बड़ौत। गाथा-संख्या १६७।

३. संपादक : आचार्य सुधर्मसागरजी। प्रकाशक—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्रीमहावीरजी। गाथा-संख्या १६७।

□□

'रयणसार' में प्रयुक्त छन्द और उनके लक्षण

गाहा – इसके प्रथम, तृतीय चरणो में १२-१२, द्वितीय चरण में १८ और चतुर्थ चरण में १५ मात्राएँ होती हैं।

सिंहनी – इसके प्रथम, तृतीय चरणों में १२-१२, द्वितीय चरण में २० और चतुर्थ चरण में १८ मात्राएँ होती हैं।

गाहिनी – इसके प्रथम, तृतीय चरणों में १२-१२, द्वितीय चरण में १८ और चतुर्थ चरण मे २० मात्राएँ होती हैं।

गाहू – इसके प्रथम, तृतीय चरणो में १२-१२, और द्वितीय-चतुर्थ चरणों में १५-१५ मात्राएँ होती है।

दोहा – इसके प्रथम-तृतीय चरणों मे १३-१३ और द्वितीय-चतुर्थ चरणों मे ११-११ मात्राएं होती है।

विग्गाहा – इसके प्रथम, तृतीय चरणों में १२-१२, द्वितीय चरण में १५ और चतुर्थ चरण में १८ मात्राएँ होती है।

उग्गाहा – इसके प्रथम, तृतीय चरणो में १२-१२ और द्वितीय, चतुर्थ चरणो में १८-१८ मात्राएँ होती है।

चपला – इसके प्रथम, तृतीय चरणों में १२-१२, द्वितीय चरण मे २० एवं चतुर्थ चरण में १५ मात्राएँ होती है।

विषयानुक्रमणिका

सार-सहित विषयानुक्रमणिका

□□

ॐ

सिरि कुन्दकुन्दाइरिय

रयणसार

अह मंगलायरण–

णमिदूण वड्ढमाणं, परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण ।
वोच्छामि* रयणसारं, सायारणयारधम्मीणं ॥१॥

अन्वयार्थ – (**परमप्पाणं**) परमात्मा (**वड्ढमाणं**) वर्धमान (**जिणं**) जिन को (**तिसुद्धेण**) मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक (**णमिदूण**) नमस्कार करके (**सायारणयारधम्मीणं**) सागार/गृहस्थ/ और अनगार/साधु धर्म वालों का–व्याख्यान करने वाला (**रयणसारं**) रयणसार नामक ग्रन्थ विषय को (**वोच्छामि**) कहता हूँ ।

अर्थ– मैं परमात्मा (तीर्थंकर) वर्धमान जिन को मन-वचन-काय की त्रिशुद्धि-पूर्वक नमस्कार करके सागार (गृहस्थ) और अनगार (साधु) धर्म का व्याख्यान करने वाला 'रयणसार' कहता हूँ/की रचना करता हूँ ।

---

* यहाँ वोच्छामि पद से आचार्य का यह अभिप्राय है कि मैं इस ग्रन्थ का [illegible] हूँ, कर्त्ता नहीं ।

सम्यग्दृष्टि की पहचान–

पुव्वं जिणेहि भणिदं, जहट्ठिदं गणहरेहि वित्थरिदं।
पुव्वाइरियक्कमजं, तं बोॅल्लदि जो हु सद्दिट्ठी ॥२॥

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**हु**) वस्तुतः/निश्चय से (**सद्दिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि है–वह (**पुव्वं**) पूर्वकाल में (**जिणेहि**) जिनेन्द्रों ने–जो (**भणिदं**) कहा (**गणहरेहि**) गणधरों ने (**जहट्ठिदं***) उसी सत्य को (**वित्थरिदं**) विस्तृत किया –विस्तार रूप से बताया– और जो (**पुव्वाइरियक्कमजं**) पूर्वाचार्यों के क्रम से/परम्परा से प्राप्त हुआ (**तं**) उसी को (**बोॅल्लदि**) कहता है।

अर्थ– जो निश्चय से सम्यग्दृष्टि है, (वह) पूर्वकाल मे जिनेन्द्रों ने जो कहा, गणधरों ने उसी सत्य को विस्तार रूप से बताया और पूर्वाचार्यों की परम्परा से जो प्राप्त हुआ, उसी को कहता है।

* जहट्ठिदं–वास्तविक, सत्य—पा. स. म., पृ. ३५२

मिथ्यादृष्टि की पहचान--

मदिसुदणाणबलेण दु, सच्छंदं बोंल्लदे जिणुद्दिट्ठं।
जो सो होदि कुदिट्ठी, ण होदि जिणमग्गलग्गरबो ।।३।।

अन्वयार्थ -- (**जो**) जो व्यक्ति (**मदिसुदणाणबलेण दु**) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से (**सच्छंदं**) स्वच्छन्द--मन:कल्पित (**बोंल्लदे**) बोलता है (**सो**) वह व्यक्ति (**कुदिट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**होदि**) होता है--वह (**जिणमग्गलग्गरबो**) जिनेन्द्रदेव के मार्ग में आरूढ़ व्यक्ति का वचन (**ण**) नहीं (**होदि**) है।

अर्थ-- जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से स्वच्छन्द (मन:कल्पित) बोलता है, वह व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है। वह जिनेन्द्रदेव के मार्ग मे आरूढ़ व्यक्ति का वचन नहीं है।

सम्यग्दर्शन के भेद–

सम्मत्तरयणसारं, मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणिदं।
तं जाणिज्जदि णिच्छय-ववहारसरूवदो भेयं ॥४॥

अन्वयार्थ – (**सम्मत्तरयणसारं**) सम्यक्त्व रत्न ही सारभूत है– वह (**मोक्खमहारुक्खमूलं**) मोक्ष रूपी महान् वृक्ष का मूल है (**इदि**) ऐसा (**भणिदं**) कहा गया है (**तं**) वह (**णिच्छयववहारसरूवदो**) निश्चय और व्यवहार रूप से (**भेयं**) दो भेद वाला (**जाणिज्जदि***) जाना जाता है।

अर्थ– सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) रत्न ही सारभूत है। वह मोक्षरूपी महान् वृक्ष का मूल है, ऐसा कहा गया है। वह निश्चय और व्यवहार रूप से (दो) भेद वाला जाना जाता है (उसके निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन ये दो भेद है)।

---

* प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, रिचार्ड पिशल, पृ. ७७२

सम्यग्दृष्टि का स्वरूप–

भयवसणमलविवज्जिद–संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।
अट्ठगुणंगसमग्गो, दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ।।५।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**दंसणसुद्धो**) निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक (**हु**) निश्चय ही (**भयवसणमलविवज्जिद**[1]) भय, व्यसन और मलों से रहित होता है (**संसारसरीरभोगणिव्विण्णो**) संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता है (**अट्ठगुणंगसमग्गो**[2]) अष्टांग गुणों से युक्त होता है (**पंचगुरुभत्तो**) पंच गुरु-परमेष्ठी का भक्त होता है।

अर्थ– निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक निश्चय ही (सप्त) भय, (सप्त) व्यसन और (पच्चीस) मलों (दोषों) से रहित, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त, अष्टांग (निःशंकितादि) गुणों से युक्त और पंच गुरु (परमेष्ठी) का भक्त होता है।

---

१. वसण–व्यसन—पा. स. म., पृ. ७५२
२. समग्ग–युक्त, सहित—पा. स. म., पृ. ८६५

सम्यग्दृष्टि दुःखी नहीं होता–

णियसुद्धप्पणुरत्तो, बहिरप्पावत्थवज्जिदो णाणी ।
जिण-मुणि-धम्मं मण्णदि, गददुक्खो होदि सद्दिट्ठी ।।६।।

अन्वयार्थ – (**णियसुद्धप्पणुरत्तो**) निज शुद्ध आत्मा में अनुरक्त रहता है (**बहिरप्पावत्थवज्जिदो**) बहिरात्मा की दशा से रहित–पराङ्मुख होता है (**णाणी**) आत्मज्ञानी होता है (**जिण-मुणि-धम्मं**) जिनेन्द्रदेव, मुनि और धर्म को (**मण्णदि**) मानता है–ऐसा (**सद्दिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**गददुक्खो**) दुःखों से रहित (**होदि**) होता है ।

अर्थ– (जो) निज शुद्ध आत्मा मे अनुरक्त (रहता है), बहिरात्मा की दशा से रहित (पराङमुख) होता है, आत्मज्ञानी (होता है और) जिनेन्द्रदेव, मुनि और धर्म को मानता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि दुःखो से रहित होता है ।

सम्यग्दृष्टि चौवालीस दोषों से रहित होता है—

मदमूढमणायदणं, संकाविवसणभयमवीयारं ।
जेसिं चउवालेसे, ण संति ते होंति सद्दिट्ठी ।।७।।

अन्वयार्थ — (**जेसिं**) जिनके (**मदमूढमणायदणं**) मद, मूढ़ता और अनायतन (**संकादिवसणभयं**) शंकादि दोष, व्यसन और भय (**अदीयारं**) अतिचार (**चउवालेसे**) ये चौवालीस दोष (**ण**) नहीं (**संति**) होते हैं (**ते**) वे (**सद्दिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**होंति**) होते हैं।

अर्थ— जिनके (आठ) मद (तीन) मूढ़ता (छह्) अनायतन, शंकादि (आठ) दोष, (सात) व्यसन, (सात) भय और (पाँच) अतिचार—ये चौवालीस दोष नही होते है, वे सम्यग्दृष्टि होते है ।

श्रावक के सतत्तर गुण–

उहयगुणवसणभयमलवेरग्गादीचार–भत्तिविग्घं वा ।
एदे सत्तत्तरिया, दंसणसावयगुणा भणिदा ॥८॥

(चपला)

अन्वयार्थ – (**उहयगुण**) दोनों गुण–आठ मूलगुण, बारह उत्तर गुण (**वसणभयमलवेरग्गादीचार**) सात व्यसन, सात भय, पच्चीस मल-दोष से रहित, वैराग्य युक्त, अतिचार रहित (**वा**) और (**भत्तिविग्घं**) विघ्न रहित भक्ति (**एदे**) ये (**सत्तत्तरिया**) सतत्तर (**दंसणसावयगुणा**) दर्शन-सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण (**भणिदा**) कहे गये हैं।

अर्थ– दोनों गुण (आठ मूलगुण, बारह उत्तरगुण), सात व्यसन, सात भय, पच्चीस मल (दोष से रहित), वैराग्य युक्त, (पाँच) अतिचार रहित और निर्विघ्न भक्ति-भावना–ये सम्यग्दृष्टि श्रावक के सतत्तर गुण कहे गये हैं।

सम्यग्दृष्टि को मोक्ष-सुख मिलता है—

देवगुरुसमयभत्ता, संसारसरीरभोगपरिचत्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता, ते मणुया सिवसुहं पत्ता ।।९।।

अन्वयार्थ – जो मनुष्य –(**देवगुरुसमयभत्ता**) देव, गुरु और शास्त्र के भक्त होते हैं; (**संसारसरीरभोगपरिचत्ता**) संसार, शरीर और भोगों के परित्यागी होते हैं; (**रयणत्तयसंजुत्ता**) रत्नत्रय से संयुक्त होते हैं (**ते**) वे (**मणुया**) मनुष्य (**सिवसुहं**) मोक्ष-सुख को (**पत्ता**) प्राप्त करते है ।

अर्थ– (जो मनुष्य) देव, गुरु और शास्त्र के भक्त होते हैं, संसार, शरीर और भोगों के परित्यागी होते है और (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप) रत्नत्रय से संयुक्त होते है, वे मोक्ष-सुख को प्राप्त करते है ।

सम्यग्दर्शन-सहित बाह्य चारित्र मोक्ष का कारण है—

दाणं पूया सीलं, उववासं बहुविहं पि खवणं पि।
सम्मजुदं मोॅक्खसुहं, सम्मविणा दीहसंसारं ॥१०॥

अन्वयार्थ – (**सम्मजुदं**) सम्यग्दर्शन से युक्त (**दाणं**) दान (**पूया**) पूजा (**सीलं**) शील (**बहुविहं पि**) अनेक प्रकार के (**उववासं**) उपवास (**खवणं पि**) कर्म-क्षय के कारणभूत व्रत आदि (**मोॅक्खसुहं**) मोक्ष-सुख के कारण हैं—और (**सम्मविणा**) सम्यग्दर्शन के विना—ये ही (**दीहसंसारं**) दीर्घसंसार के कारण हैं।

अर्थ– सम्यग्दर्शन से युक्त दान, पूजा, शील, अनेक प्रकार के उपवास तथा कर्म-क्षय के कारणभूत व्रत आदि मोक्ष-सुख के कारण है और सम्यग्दर्शन के विना ये ही दीर्घ संसार के कारण हैं।

श्रावक और मुनि के कर्त्तव्य–

दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जदिधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥११॥

(सिंहनी)

अन्वयार्थ – (**सावयधम्मे**) श्रावक धर्म में (**दाणं**) दान–और (**पूया**) पूजा (**मुक्खं**) मुख्य-कर्त्तव्य हैं (**तेण**) उसके (**विणा**) बिना (**सावया**) श्रावक (**ण**) नहीं होता है (**जदिधम्मे**) मुनि-धर्म में (**झाणाज्झयणं**) ध्यान और अध्ययन (**मुक्खं**) मुख्य कर्त्तव्य हैं (**तं**) उस ध्यान, अध्ययन के (**विणा**) बिना (**सो वि**) वह मुनि-धर्म भी (**तहा**) वैसा ही-व्यर्थ है।

अर्थ– श्रावक-धर्म में दान और पूजा मुख्य (कर्त्तव्य) है। उसके (दान और पूजा के) बिना श्रावक नहीं होता (कहलाता)। मुनि-धर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य (कर्त्तव्य) है। उस (ध्यान, अध्ययन) के बिना वह मुनि-धर्म भी वैसा ही (व्यर्थ) है।

बहिरात्मा पतंगे के समान है–

दाण ण धम्म ण चाग ण, भोग ण बहिरप्प जो पयंगो सो ।
लोहकसायग्गिमुहे, पडिदो मरिदो ण संदेहो ॥१२॥

अन्वयार्थ – (**जो**) जो श्रावक (**दाण**) दान (**ण**) नहीं देता (**धम्म**) धर्म का (**ण**) पालन नहीं करता (**चाग**) त्याग (**ण**) नहीं करता (**भोग**) न्यायपूर्वक भोग (**ण**) नहीं करता (**बहिरप्प**) वह बहिरात्मा है (**सो**) वह (**पयंगो**) ऐसा पतंगा है–जो (**लोह-कसायग्गिमुहे**) लोभकषायरूपी अग्नि के मुख में (**पडिदो**) पड़ा हुआ (**मरिदो**) मर जाता है (**संदेहो**) इसमें सन्देह (**ण**) नहीं है ।

अर्थ–जो श्रावक दान नहीं देता, धर्म का पालन नही करता, त्याग नहीं करता, न्यायपूर्वक भोग नहीं करता, वह बहिरात्मा है । वह ऐसा पतंगा है, जो लोभकषायरूपी अग्नि के मुख में पड़ा हुआ मर जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ।

पूजा, दान करने वाला सम्यग्दृष्टि है–

जिणपूया मुणिदाणं, करेदि जो देदि सत्तिरूवेण ।
सम्मादिट्ठी सावय-धम्मी सो होदि मोक्खमग्गरदो ॥१३॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**जिणपूया**) जिनदेव की पूजा (**करेदि***) करता है–और (**सत्तिरूवेण**) शक्ति के अनुसार (**मुणिदाणं**) मुनियों को दान (**देदि**) देता है (**सो**) वह (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**धम्मी**) धर्मात्मा (**सावय**) श्रावक है–वह (**मोक्खमग्गरदो**) मोक्ष-मार्ग में रत (**होदि**) है।

अर्थ– जो जिनदेव की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रावक है। वह मोक्ष-मार्ग में रत है।

---

* करेदि—प्रा. भा. व्या., पृ. ३८, ६६७

पूजा और दान का फल-

पूयफलेण तिलोक्के सुरपुज्जो हवदि सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए, सारसुहं भुञ्जदे णियदं ॥१४॥

(गाहू)

अन्वयार्थ – (**सुद्धमणो**) शुद्ध मन वाला श्रावक (**पूयफलेण**) पूजा के फल से (**तिलोक्के**) तीनों लोकों में (**सुरपुज्जो**) देवों से पूज्य (**हवदि**) होता है–और (**दाणफलेण**) दान के फल से (**तिलोए**) तीनों लोकों में (**णियदं**) निश्चय से (**सारसुहं**) सारभूत सुख को (**भुञ्जदे**) भोगता है।

अर्थ– शुद्ध मन वाला श्रावक पूजा के फल से तीनों लोकों में देवों से पूज्य होता है और दान के फल से तीनो लोकों मे निश्चय से सारभूत सुख को भोगता है ।

जिन-मुद्रा देखकर आहार-दान का उपदेश–

दाणं भोयणमेत्तं, दिण्णदि धण्णो हवेदि सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं, सद्दंसणे किं वियारेण ।।१५।।

अन्वयार्थ – यदि (**सायारो**) श्रावक (**भोयणमेत्तं**) भोजन-मात्र (**दाणं**) दान (**दिण्णदि**) देता है–तो वह (**धण्णो**) धन्य (**हवेदि**) हो जाता है (**सद्दंसणे**) जिन-लिंग को देखकर (**पत्तापत्तविसेसं**) पात्रापात्रविशेष के (**वियारेण**) विचार से–विकल्प करने से (**किं**) क्या लाभ है ?

अर्थ– (यदि) श्रावक (मुनि को) भोजन-मात्र दान देता है तो वह धन्य हो जाता है। (एक जिन-लिंग को) देखकर पात्रविशेष या अपात्रविशेष का विचार (विकल्प) करने से क्या (लाभ है) ?

सुपात्र-दान से स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति-

दिण्णदि सुपत्तदाणं, विसेसदो होदि भोगसग्गमहो।
णिव्वाणसुहं कमसो, णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१६॥

अन्वयार्थ - यदि (**सुपत्तदाणं**) सुपात्र-दान (**दिण्णदि**) दिया जाता है-तो (**विसेसदो**) विशेष रूप से (**भोगसग्गमहो**) भोगभूमि और स्वर्ग (**होदि**) प्राप्त होता है (**कमसो**) और क्रमशः (**णिव्वाणसुहं**) निर्वाण-सुख मिलता है (**जिणवरिंदेहिं**) जिनेन्द्रों ने ऐसा (**णिद्दिट्ठं**) कहा है।

अर्थ- (यदि) सुपात्र को दान दिया जाता है (तो उसके फलस्वरूप) विशेष रूप से भोगभूमि और स्वर्ग प्राप्त होता है और क्रमशः निर्वाण-सुख मिलता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवों ने कहा है।

सुपात्र-दान का उत्तम फल—

खेत्तविसेसे काले, वविद सुवीयं फलं जहा विउलं ।
होदि तहा तं जाणह, पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥१७॥

अन्वयार्थ – (**जहा**) जैसे (**खेत्तविसेसे**) विशेष–उत्तम क्षेत्र में (**काले**) उपयुक्त काल मे (**वविद**) बोया हुआ (**सुवीयं**) उत्तम बीज (**विउलं**) विपुल (**फलं**) फलवाला (**होदि**) होता है (**तहा**) उसी प्रकार (**पत्तविसेसेसु**) विशेष–उत्तम पात्रो को दिये (**तं**) उस (**दाणफलं**) दान के फल को (**जाणह***) जानो ।

अर्थ– जैसे उत्तम क्षेत्र में, उपयुक्त काल मे बोये हुए उत्तम बीज का विपुल फल मिलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रो को दिये उस दान के फल को जानो ।

---

* जाणह—आज्ञावाचक —प्रा. भा. व्या., पृ. ७४५

सप्त क्षेत्रों में दिये दान का फल–

इह णियसुवित्तबीयं, जो ववदि जिणुत्तसत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं, भुञ्जदि कल्लाणपंचफलं ।।१८।।

अन्वयार्थ – (**इह**) इस लोक में (**जो**) जो पुरुष (**जिणुत्तसत्त-खेत्तेसु**) जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सप्त क्षेत्रों मे (**णियसुवित्तबीयं**) अपने–नीतिपूर्वक उपार्जित–श्रेष्ठ धनरूपी बीज को (**ववदि**) बोता है (**सो**) वह (**तिहुवणरज्जफलं**) त्रिभुवन के राज्यरूपी फल को–और (**कल्लाणपंचफलं**) पंच कल्याणक रूप फल को (**भुञ्जदि**) भोगता है ।

अर्थ– इस लोक में जो पुरुष जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सप्त क्षेत्रों में अपने (नीतिपूर्वक उपार्जित) श्रेष्ठ धनरूपी बीज को बोता है, वह त्रिभुवन के राज्यरूपी फल को और पंचकल्याणक रूप फल को भोगता है ।

सुपात्र-दान का फल-

मादु-पिदु-पुत्त-मित्तं, कलत्त-धण-धण्ण-वत्थु-वाहण-विहवं ।
संसारसारसोंक्खं, सव्वं जाणह सुपत्तदाणफलं ।।१९।।

(सिहनी)

अन्वयार्थ – (**मादु**) माता (**पिदु**) पिता (**पुत्त**) पुत्र (**मित्तं**) मित्र (**कलत्त**) स्त्री (**धण**) गाय आदि पशु (**धण्ण**) अनाज (**वत्थु**) मकान (**वाहण**) वाहन (**विहवं**) वैभव (**संसारसार-सोंक्खं**) संसार के उत्तम सुख (**सव्वं**) यह सब (**सुपत्तदाणफलं**) सुपात्र-दान का फल (**जाणह**) जानो ।

अर्थ– माता, पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री, गाय आदि पशु, अनाज, मकान, वाहन, वैभव और संसार के उत्तम सुख—यह सब सुपात्र-दान का फल जानो ।

सुपात्र-दान का फल—

सत्तंगरज्ज-णवणिहि-भंडार-सडंगबल-चउद्दस रयणं ।
छण्णवदि सहस्सित्थी, विहवं जाणह सुपत्तदाणफलं ।।२०।।

(सिहनी)

अन्वयार्थ – (**सत्तंगरज्ज**) सप्तांग राज्य (**णवणिहि**) नवनिधि (**भंडार**) कोष (**सडंग बल**) छह प्रकार की सेना (**चउद्दस *रयणं**) चौदह रत्न (**छण्णवदि सहस्सित्थी**) छियानवे हजार स्त्रियाँ—और (**विहवं**) वैभव—यह सब (**सुपत्तदाणफलं**) सुपात्र-दान का फल (**जाणह**) जानो ।

अर्थ— सप्ताङ्ग राज्य, नवनिधि, कोष, छह प्रकार की सेना, चौदह रत्न, छियानवे हजार स्त्रियाँ और वैभव—यह सब सुपात्र-दान का फल जानो ।

विशेष—सप्ताङ्ग राज्य—राजा, मन्त्री, मित्र, कोष, देश, किला और सेना ।

नवनिधि—काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पद्म, माणव, पिंग, शंख, सर्वरत्न ।

षडंग सेना—हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति ।

चौदह रत्न—चक्र, छत्र, असि, मणि, चर्म और काकिणी—ये सात अजीव रत्न हैं । सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, शिलावट और पुरोहित—ये सात सजीव रत्न हैं ।

---

* अपभ्रंश में चउद्दह आता है । जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी में चोद्दस और चउद्दस बनता है ।
—प्रा. भा. व्या., पृ. ६५८

सुपात्र-दान का फल–

सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमदि-सुसिक्खा-सुसील-सुगुण-सुचरित्तं ।
सयलं सुहाणुभवणं, विहवं जाणह सुपत्तदाणफलं ॥२१॥

(सिंहनी)

अन्वयार्थ – (**सुकुल**) उत्तम कुल (**सुरूव**) उत्तम रूप (**सुलक्खण**) उत्तम लक्षण (**सुमदि**) उत्तम बुद्धि (**सुसिक्खा**) उत्तम शिक्षा (**सुसील**) उत्तम स्वभाव (**सुगुण**) उत्तम गुण (**सुचरित्तं**) उत्तम चरित्र (**सयलं**) सकल (**सुहाणुभवणं**) सुखों का अनुभव–और (**विहवं**) वैभव–यह सब (**सुपत्तदाणफलं**) सुपात्र-दान का फल (**जाणह**) जानो ।

अर्थ– उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम लक्षण, उत्तम बुद्धि, उत्तम शिक्षा, उत्तम स्वभाव, उत्तम गुण, उत्तम चरित्र, सकल सुखों का अनुभव और वैभव– (यह सब) सुपात्र-दान का फल जानो।

आहार-दान के बाद भोजन करने का उपदेश–

जो मुणिभुत्तवसेसं, भुञ्जदि सो भुञ्जदे जिणुद्दिट्ठ ।
संसारसारसोंक्खं, कमसो णिव्वाणवरसोंक्खं ॥२२॥

अन्वयार्थ – (**जो**) जो भव्यजीव (**मुणिभुत्तवसेसं**) मुनि के आहार के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को–प्रसाद मानकर (**भुञ्जदि**) खाता है (**सो**) वह (**संसारसारसोंक्खं**) संसार के सारभूत सुखों को–और (**कमसो**) क्रमशः (**णिव्वाणवरसोंक्खं**) मोक्ष के उत्तम सुख को (**भुञ्जदे**) भोगता है–ऐसा (**जिणुद्दिट्ठं**) जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

अर्थ– जो (भव्य जीव) मुनि के आहार के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को (प्रसाद मानकर) खाता है, वह संसार के सारभूत सुखो को और क्रमशः मोक्ष के उत्तम सुख को भोगता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

मुनियों के आहार-दान में विवेक—

सीदुण्ह-वाय-पिउलं, सिलेसिम्मं तह परिसमं वाहिं।
कायकिलेसुववासं, जाणिच्चा दिण्णदे दाणं ॥२३॥

अन्वयार्थ – (**सीदुण्ह**) शीत या उष्णकाल (**वाय-पिउलं-सिलेसिम्मं**) मुनि की वात-पित्त या कफ-प्रधान प्रकृति (**परिसमं**) परिश्रम (**तह**) तथा (**वाहिं**) व्याधि (**कायकिलेसं**) कायक्लेश तप—और (**उववासं**) उपवास (**जाणिच्चा***) जानकर (**दाणं**) दान (**दिण्णदे**) दिया जाता है।

अर्थ—शीत या उष्ण (काल-ऋतु), (मुनि की प्रकृति) वात, पित्त या कफ (प्रधान है), (गमनागमन या ध्यानासनों में होने वाले) परिश्रम, रोग, कायक्लेश तप और उपवास (आदि सारी बातों को) जानकर दान दिया जाता है।

विशेष—*मुनियों की प्रकृति और ऋतु के अनुकूल संयमवर्धक आहार देना चाहिए।*

---

* क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर कहीं-कहीं च्चा लगता है। –प्रा. भा. व्या., पृ ८३०

मुनि के लिए देय वस्तु में विवेक–

हिदमिदमण्णं पाणं, णिरवज्जोसहिं णिराउलं ठाणं ।
सयणासणमुवयरणं, जाणिज्जा देदि मोंक्खमग्गरदो ।।२४।।

(भिहती)

अन्वयार्थ – (**मोंक्खमग्गरदो**) मोक्षमार्ग में अनुरक्त व्यक्ति (**हिदमिदं**) हित और मित (**अण्णं**) अन्न (**पाणं**) पान (**णिरवज्जोसहिं**) निर्दोष औषधि (**णिराउलं**) निराकुल (**ठाणं**) स्थान (**सयणासणमुवयरणं**) शयनोपकरण और आसनोपकरण (**जाणिज्जा**) आवश्यकता जानकर (**देदि**) देता है।

अर्थ– मोक्ष-मार्ग मे अनुरक्त व्यक्ति (मुनि को) हितकारी और परिमित अन्न-पान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण और आसनोपकरण (आवश्यकता जानकर) देता है।

मुनियों की वैयावृत्य–

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिच्चा।
गब्भब्भमेव मादा-पिदुच्च णिच्चं तहा णिरालसया ॥२५॥

(गाहिणी)

अन्वयार्थ – (**जहेह**) जैसे इस लोक में (**मादा-पिदुच्च**) माता और पिता (**गब्भब्भमेव**) गर्भस्थित शिशु-का सावधानी से पालन करते हैं (**तहा**) उसी प्रकार (**अणयाराणं**) मुनियों की (**जाणिच्चा**) प्रकृति आदि जानकर (**णिच्चं**) सदा (**णिरालसया**) आलस्य-रहित होकर (**वेज्जावच्चं**) वैयावृत्य (**कुज्जा**) करनी चाहिए।

अर्थ–जैसे इस लोक में माता और पिता गर्भ-स्थित शिशु (का सावधानी से पालन करते हैं), उसी प्रकार मुनियों की (प्रकृति आदि) जानकर सदा आलस्य-रहित होकर वैयावृत्य करनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टि और लोभी पुरुष के दान में अन्तर–

सप्पुरिसाणं दाणं, कप्पतरूणं फलाण सोहा वा ।
लोहीणं दाणं जदि, विमाण सोहा सवं जाणे ।।२६।।

अन्वयार्थ - (**सप्पुरिसाणं**) सत्पुरुषों–सम्यग्दृष्टि का (**दाणं**) दान (**कप्पतरूणं**) कल्पवृक्ष के (**फलाण**) फलों की (**सोहा**) शोभा (**वा**[1]) समान–होता है (**लोहीणं**) लोभी पुरुषों का (**जदि**[2]) जो (**दाणं**) दान है–वह (**विमाण सवं**) अर्थी के शव की (**सोहा**) शोभा के समान है (**जाणे**) ऐसा जानो ।

अर्थ– सत्पुरुषो (सम्यग्दृष्टि) का दान कल्पवृक्ष के फलो की शोभा के समान है और लोभी पुरुषों का जो दान है, वह अर्थी के शव की शोभा के समान है, ऐसा जानो ।

१. वा—अथवा, अवधारण, निश्चय, सादृश्य, समानता, उपमा, पादपूर्ति
—पा. स. म., पृ. ७५५

२. जदि—यदि, जो, अगर
—पा. स. म., पृ. ३४१

लोभी का दान–

जस-कित्ति-पुण्णलाहे, देदि सुबहुगं पि जत्थ तत्थेव ।
सम्मादिसुगुणभायण, पत्तविसेसं ण जाणंति ॥२७॥

अन्वयार्थ – लोभी पुरुष (**जस-कित्ति-पुण्णलाहे**) यश, कीर्ति और पुण्य-लाभ के लिए (**जत्थ तत्थेव**) यत्रतत्र–कुपात्र आदि को (**सुबहुगं पि**) बहुत (**देदि**) दान देता है–वह (**सम्मादिसुगुणभायण**) सम्यक्त्वादि उत्तम गुणों के आधार (**पत्तविसेसं**) सुपात्र को (**ण जाणंति**) नहीं जानता।

अर्थ– (लोभी पुरुष) यश, कीर्ति और पुण्य-लाभ के लिए यत्रतत्र (कुपात्र आदि को) बहुत दान देता है। वह सम्यक्त्वादि उत्तम गुणों के आधार सुपात्र को नहीं जानता।

ऐहिक कामना से दिया दान निरर्थक है–

जंतं मंतं तंतं, परिचरिदं पक्खवाद पियवयणं।
पडुच्च पंचमयाले, भरहे दाणं ण किं पि मोंक्खस्स ॥२८॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**पंचमयाले**) इस पंचम काल में (**भरहे**) भरत क्षेत्र में (**जंतं**) यंत्र (**मंतं**) मंत्र (**तंतं**) तंत्र (**परिचरिदं**) सेवा परिचर्या (**पक्खवाद**) पक्षपात (**पियवयणं**) प्रिय वचन–और (**पडुच्च**) प्रतीति के लिए–दिया हुआ (**किं पि**) कोई भी (**दाणं**) दान (**मोंक्खमग्गस्स**) मोक्ष-मार्ग का कारण (**ण**) नहीं है।

अर्थ– इस पंचमकाल मे भरतक्षेत्र में यंत्र-मंत्र-तंत्र (की प्राप्ति के लिए), सेवा (परिचर्या के लिए), पक्षपात से, प्रियवचन और प्रतीति (मान-प्रतिष्ठा) के लिए दिया हुआ कोई भी दान मोक्ष का कारण नहीं है।

पूर्वोपार्जित कर्म का फल–

दाणीणं दारिद्दं, लोहीणं किं हवदि महइसरियं।
उहयाणं पुव्वज्जिद कम्मफलं जाव होदि थिरं ।।२१।।

अन्वयार्थ – (**दाणीणं**) दानी पुरुषों के (**दारिद्दं**) दरिद्रता और (**लोहीणं**) लोभी पुरुषों के (**महइसरियं**) महान् ऐश्वर्य (**किं**) क्यों (**हवदि**) होता है (**जाव**) जब तक (**उहयाण**) दोनों के (**पुव्वज्जिद**) पूर्वोपार्जित (**कम्मफल**) कर्म-फल (**थिरं**) स्थिर–उदय में (**होदि**) रहता है।

अर्थ– दानी पुरुषों के दरिद्रता और लोभी पुरुषों के महान् ऐश्वर्य क्यों होता है (देखा जाता है); जब तक दोनों का पूर्वोपार्जित कर्म-फल स्थिर (उदय में) रहता है।

मुनि-दान से सुख होता है—

धणधण्णादिसमिद्धे, सुहं जहा होदि सव्वजीवाणं।
मुणिदाणादिसमिद्धे, सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥३०॥

अन्वयार्थ – (**जहा**) जैसे (**धणधण्णादिसमिद्धे**) धन-धान्यादि की समृद्धि से (**सव्वजीवाणं**) समस्त जीवों को (**सुहं**) सुख (**होदि**) होता है (**तहा**) उसी प्रकार (**मुणिदाणादिसमिद्धे**) मुनि-दान आदि की समृद्धि से (**सुहं**) सुख होता है (**तं विणा**) उसके बिना (**दुक्खं**) दुःख होता है।

अर्थ– जैसे धन-धान्यादि की समृद्धि से समस्त जीवो को सुख होता है, उसी प्रकार मुनि-दान आदि की समृद्धि से सुख होता है और उसके बिना दुःख होता है।

सुपात्र के बिना दान निष्फल है–

पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणा बहुधणं महाखेत्तं।
चित्त विणा वय-गुण-चारित्तं णिक्कारणं जाणे ॥३१॥

अन्वयार्थ – (**पत्त विणा**) सुपात्र के बिना (**दाणं**) दान (**च**) और (**सुपुत्त विणा**) सुशील पुत्र के बिना (**बहुधणं**) बहुत धन– और (**महाखेत्तं**) महाक्षेत्र–जमीन-जायदाद (**चित्त विणा**) भावों के बिना (**वय-गुण-चारित्तं**) व्रत, गुण और चारित्र (**णिक्कारणं**) निष्फल (**जाणे**) जानो।

अर्थ– सुपात्र के बिना दान, सुशील पुत्र के बिना बहुत धन और महाक्षेत्र (जमीन-जायदाद), भावों के बिना व्रत, गुण और चारित्र निष्फल जानो।

धर्म-द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम–

जिण्णुद्धार-पदिट्ठा-जिणपूया-तित्थवंदण वसेसधणं।
जो भुञ्जदि सो भुञ्जदि, जिणदिट्ठं णरयगदिदुक्खं ।।३२।।

(चपला)

अन्वयार्थ – (**जो**) जो व्यक्ति (**जिण्णुद्धार**) जीर्णोद्धार (**पदिट्ठा**) प्रतिष्ठा (**जिणपूया**) जिनपूजा (**तित्थवंदण**) तीर्थ-यात्रा के (**वसेसधणं**) अवशिष्ट धन को (**भुञ्जदि**) भोगता है (**सो**) वह (**णरयगदिदुक्खं**) नरक गति के दुःख को (**भुञ्जदि**) भोगता है (**जिणदिट्ठं***) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ– जो व्यक्ति जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिन-पूजा और तीर्थ-यात्रा के अवशिष्ट धन को भोगता है, वह नरक गति के दुःख को भोगता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

* दिट्ठ—कथित, प्रतिपादित —पा. स. म., पृ. ४६२

धर्म-द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम-

पुत्तकलत्तविदूरो, दारिद्दो पंगुमूकबहिरंधो।
चांडालादिकुजादो, पूयादाणादि दव्वहरो ॥३३॥

अन्वयार्थ - (**पूयादाणादि**) पूजा, दान आदि के (**दव्वहरो**) द्रव्य का अपहरण करने वाला (**पुत्तकलत्तविदूरो**) पुत्र-स्त्री रहित (**दारिद्दो**) दरिद्री (**पंगुमूकबहिरंधो**) लंगड़ा, गूँगा, बहरा, अन्धा और (**चांडालादि कुजादो**) चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

अर्थ-पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला पुत्र-स्त्री रहित, दरिद्री, लंगड़ा, गूंगा, बहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है।

धर्म-द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम–

इच्छिदफलं ण लब्भदि, जदि लब्भदि सो ण भुञ्जदे णियदं।
वाहीणमायरो सो, पूयादाणादि दव्वहरो ॥३४॥

अन्वयार्थ – (**पूयादाणादि दव्वहरो**) पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला (**इच्छिदफलं**) इच्छित फल को (**ण लब्भदि**) प्राप्त नहीं करता है (**जदि**) यदि (**लब्भदि**) प्राप्त करता है–तो (**सो**) वह (**ण भुञ्जदे**) उसको भोग नहीं पाता (**णियदं**) यह निश्चित है (**सो**) वह (**वाहीणमायरो**) व्याधियों का घर बन जाता है।

अर्थ–पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला इच्छित फल को प्राप्त नही करता है। यदि प्राप्त करता है तो वह उसे भोग नही पाता, यह निश्चित है। वह व्याधियों का घर (बन जाता है)।

धर्म-द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम-

गदहत्थपादणासिय-कण्णउरंगुल विहीणदिट्ठीए ।
जो तिव्वदुक्खमूलो, पूयादाणादि दव्वहरो ।।३५।।

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**पूयादाणादि दव्वहरो**) पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला है–वह (**गदहत्थ-पाद-णासिय-कण्ण-उरंगल**) हाथ, पैर, नाक, कान, छाती और अंगुली से हीन (**विहीणदिट्ठीए**) दृष्टिहीन, और (**तिव्वदुक्खमूलो**) तीव्र दुःख को प्राप्त होता है ।

अर्थ– जो पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला है, वह हाथ-पैर-नाक-कान-छाती और अंगुली से हीन (विकलांग), दृष्टिहीन, और तीव्र दुःख का भागी होता है ।

धर्म-कार्यों में विघ्न डालने का फल–

खय-कुट्ठ-मूल-सूला, लूय-भयंदर-जलोयरक्खिसिरो ।
सीदुण्हवाहिरादी, पूयादाणंतरायकम्मफलं ॥३६॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**खय-कुट्ठ-मूल-सूला**) क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल (**लूय-भयंदर-जलोयरक्खिसिरो**) लूता–एक वातिक रोग अथवा मकड़ी का फरना, भगंदर, जलोदर, नेत्ररोग, सिर के रोग (**सीदुण्हवा-हिरादी**) शीतोष्ण से होने वाली सन्निपात आदि व्याधियाँ–ये सब (**पूयादाणंतरायकम्मफलं**) पूजा, दान आदि में अन्तराय डालने के कर्म-फल है ।

अर्थ– क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल, लूता (एक वातिक रोग अथवा मकड़ी का फरना), भगंदर, जलोदर, नेत्ररोग, सिर के रोग, शीतोष्ण से होने वाला सन्निपात आदि व्याधियाँ–ये सब पूजा, दान आदि में अन्तराय डालने के कर्म-फल हैं ।

धर्म-कार्यों में विघ्न डालने का फल—

णरइ-तिरियाइ-दुगदी, दारिद्द-वियलंग-हाणि-दुक्खाणि ।
देव - गुरु - सत्थवंदण - सुदभेद - सज्झायविघणफलं ।।३७।।

अन्वयार्थ — (**णरइ-तिरियाइ-दुगदी**) नरक गति, तिर्यञ्च गति, दुर्गति (**दारिद्द-वियलंग-हाणि-दुक्खाणि**) दरिद्रता, विकलांग, हानि और दुःख ये सब (**देव-गुरु-सत्थवंदण**) देव-वंदना, गुरु-वंदना, शास्त्र-वंदना (**सुदभेद-सज्झाय विघणफलं**) श्रुतभेद, स्वाध्याय में विघ्न डालने के फल हैं ।

अर्थ— नरक गति, तिर्यञ्च गति, दुर्गति, दरिद्रता, विकलांग, हानि और दुःख—यह सब देव-वंदना, गुरु-वदना, शास्त्र-वदना, श्रुत भेद और स्वाध्याय मे विघ्न डालने के फल है ।

पंचम काल का प्रभाव–

सम्मविसोही-तव-गुण-चरित्त-सण्णाण-दाणपरिहीणं ।
भरहे दुस्समयाले, मणुयाणं जायदे णियदं ।।३८।।

अन्वयार्थ – इस (**भरहे**) भरत क्षेत्र में (**दुस्समयाले**) दुःखम-पंचमकाल में (**मणुयाणं**) मनुष्यों के (**णियदं**) निश्चय ही (**सम्म-विसोही**) सम्यग्दर्शन की विशुद्धि (**तव-गुण-चरित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं**) तप, मूलगुण, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान में हीनता (**जायदे**) होती है ।

अर्थ– (इस) भरत क्षेत्र में दुःखम (पंचम काल) में मनुष्यो के निश्चय ही सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, तप, मूलगुण, सम्यक् चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान में हीनता होती है (पायी जाती है) ।

धर्माचरण के बिना दुर्गति-

णहि दाणं णहि पूया, णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं ।
जे जइणा भणिदा ते, णेरइया होंति कुमाणुसा तिरिया ॥३६॥

(गाहिणी)

अन्वयार्थ – (**जे**) जो मनुष्य (**णहि**) न तो (**दाणं**) दान देते (**णहि**) न ही (**पूया**) पूजा करते (**णहि**) न ही (**सीलं**) शील पालते (**णहि**) न ही (**गुणं**) गुण-धारण करते और (**ण**) न (**चारित्त**) चारित्र पालते हैं। (**ते**) वे (**णेरइया**) नारकी (**कुमाणुसा**) कुमानुष और (**तिरिया**) तिर्यञ्च (**होंति**) होते हैं–ऐसा (**जइणा**) जिनदेव ने (**भणिदा**) कहा है।

अर्थ– जो मनुष्य न तो दान (देते है), न ही पूजा (करते हैं), न ही शील (पालते है), न ही गुण (धारण करते है) और न चारित्र (पालते हैं), वे नारकी, कुमानुष और तिर्यञ्च होते है–ऐसा जिनदेव ने कहा है।

विवेक के बिना सम्यक्त्व नहीं होता–

ण वि जाणदि कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्णपावं हि ।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ।।४०।।

अन्वयार्थ – जो (**कज्जमकज्जं**) कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य (**सेयमसेयं**) श्रेय और अश्रेय (**पुण्णपावं**) पुण्य और पाप (**तच्चमतच्चं**) तत्त्व और अतत्त्व (**धम्ममधम्मं**) धर्म और अधर्म को (**हि**) निश्चय से (**ण वि**) नही (**जाणदि**) जानता है (**सो**) वह (**सम्मउम्मुक्को**) सम्यक्त्व से रहित है ।

अर्थ– जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, श्रेय-अश्रेय (हित-अहित), पुण्य-पाप, तत्त्व-अतत्त्व, और धर्म-अधर्म को निश्चय से (वस्तुत:) नही जानता है, वह सम्यक्त्व से रहित है ।

अविवेकी को सम्यक्त्व नहीं होता—

ण वि जाणदि जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥४१॥
(चपला)

अन्वयार्थ – जो (**जोग्गमजोग्गं**) योग्य-अयोग्य (**णिच्चमणिच्चं**) नित्य-अनित्य (**हेयमुवादेयं**) हेय-उपादेय (**सच्चमसच्चं**) सत्य-असत्य (**भव्वमभव्वं**) भव्य-अभव्य को (**ण वि**) नहीं (**जाणदि**) जानता है (**सो**) वह (**सम्मउम्मुक्को**) सम्यक्त्व से रहित है।

अर्थ— जो योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य और भव्य-अभव्य को नही जानता है, वह सम्यक्त्व से रहित है।

लौकिक जनों की संगति त्याज्य है—

लोइयजणसंगादो, होदि महामुहरकुडिलदुब्भावो ।
लोइयसंगं तम्हा, जोइवि तिविहेण मुच्चाहो ।।४२।।

अन्वयार्थ – मनुष्य (**लोइयजणसंगादो**) लौकिक जनों की संगति से (**महामुहरकुडिलदुब्भावो**) अत्यन्त वाचाल, कुटिल और दुर्भावना-युक्त (**होदि**) हो जाता है (**तम्हा**) इसलिए (**जोइवि**) देखभाल कर (**लोइयसंगं**) लौकिक जनों की संगति को (**तिविहेण**) मन-वचन-काय से (**मुच्चाहो**) छोड़ देना चाहिए ।

अर्थ– (मनुष्य) लौकिक जनों (सामान्यजनों) की संगति से अत्यन्त वाचाल, कुटिल और दुर्भावनायुक्त हो जाता है; इसलिए देखभाल कर (विचारपूर्वक) लौकिक जनों की संगति को मन-वचन-काय से छोड़ देना चाहिए ।

सम्यक्त्व-रहित जीव की पहचान–

उग्गो तिव्वो दुट्ठो, दुब्भावो दुस्सुवो दुरालावो।
दुम्मदरदो विरुद्धो, सो जीवो सम्मउम्मुक्को ॥४३॥

अन्वयार्थ – जो (उग्गो) उग्र (तिव्वो) तीव्र (दुट्ठो) दुष्ट (दुब्भावो) दुर्भावनायुक्त (दुस्सुवो) मिथ्या शास्त्रों का श्रवण करने वाला (दुरालावो) दुष्टभाषी (दुम्मदरदो) मिथ्या मद में अनुरक्त और (विरुद्धो) आत्मधर्म के विरुद्ध है (सो जीवो) वह जीव (सम्मउम्मुक्को) सम्यक्त्व-रहित है।

अर्थ– जो उग्र (प्रकृति वाला है), तीव्र (स्वभाव वाला है), दुष्ट (प्रकृति का है), दुर्भाव (शील है), मिथ्या शास्त्रो का श्रवण करने वाला है, दुष्टभाषी है, मिथ्यामद मे अनुरक्त है और विरुद्ध (आत्मधर्म के विरुद्ध आचरण करने वाला) है, वह जीव सम्यक्त्व-रहित है।

दुष्ट स्वभावी को सम्यक्त्व नहीं होता–

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो, अणिट्ठ पिसुणो सगव्वियोसूयो ।
गायण-जायण-भंडण-दुस्सणसीलो दु सम्मउम्मुक्को ।।४४।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**खुद्दो**) क्षुद्र (**रुद्दो**) रौद्र (**रुट्ठो**) रुष्ट (**अणिट्ठ**) दूसरों का अनिष्ट चाहने या करने वाले (**पिसुणो**) चुगलखोर (**सगव्वियो**) अभिमानी (**असूयो**) असहिष्णु/ईर्ष्यालु (**गायण**) गायक (**जायण**) याचक (**भंडण**) कलह करने वाले/गाली देने वाले (**दु**) और (**दुस्सणसीलो**) दूसरो को दोष लगाने वाले–ये सब (**सम्मउम्मुक्को**) सम्यक्त्व-रहित होते है।

अर्थ– क्षुद्र-रौद्र (स्वभाव वाले), रुष्ट, दूसरो का अनिष्ट चाहने या करने वाले, चुगलखोर, अभिमानी, असहिष्णु (ईर्ष्यालु), गायक, याचक, कलह करने वाले (गाली देने वाले) और दूसरो को दोष लगाने वाले–ये सब सम्यक्त्व-रहित होते है।

जैनधर्म के विनाशक–

वाणर-गद्दह-साण-गय, वग्घ-वराह-कराह।
मक्खि-जलूय सहाव णर, जिणवर धम्म विणास॥४५॥

(दोहा)

अन्वयार्थ – (**वाणर**) बन्दर (**गद्दह**) गधा (**साण**) कुत्ता (**गय**) हाथी (**वग्घ**) बाघ (**वराह**) सूअर (**कराह**) कच्छप (**मक्खि**) मक्खी (**जलूय सहाव**) जोंक के स्वभाव वाले (**णर**) मनुष्य (**जिणवरधम्म**) जिनेन्द्रदेव के धर्म का (**विणास**) विनाश करने वाले होते है।

अर्थ– बन्दर, गधा, कुत्ता, हाथी, बाघ, सूअर, कच्छप, मक्खी और जोंक के स्वभाव वाले मनुष्य जिनेन्द्रदेव के धर्म का विनाश करने वाले होते है।

सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता—

सम्म विणा सण्णाणं, सच्चारित्तं ण होदि णियमेण।
तो रयणत्तय मज्झे, सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥४६॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ — (**सम्म विणा**) सम्यग्दर्शन के विना (**सण्णाणं**) सम्यग्ज्ञान और (**सच्चारित्तं**) सम्यक् चारित्र (**णियमेण**) नियम से (**ण**) नहीं (**होदि**) होते हैं (**तो**) इसलिए (**रयणत्तय मज्झे**) रत्नत्रय में (**सम्मगुणुक्किट्ठं**) सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है (**इदि**) यह (**जिणुद्दिट्ठं**) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ— सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते हैं; इसलिए रत्नत्रय मे सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है, यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

सम्यक्त्व-हानि के कारण--

कुतव कुलिंगि कुणाणी, कुवय कुसीले कुदंसण कुसत्थे।
कुणिमित्ते संथुय थुइ, पसंसणं सम्महाणि होदि णियमं ।।४७।।

(गाहिणी)

अन्वयार्थ – (**कुतव**) मिथ्यातप (**कुलिंगि**) कुलिगी/मिथ्यावेष धारण करने वाले (**कुणाणी**) मिथ्याज्ञानी (**कुवय**) मिथ्याव्रत (**कुसीले**) मिथ्याशील (**कुदंसण**) मिथ्यादर्शन (**कुसत्थे**) मिथ्या शास्त्र (**कुणिमित्ते**) झूठे निमित्तों की (**संथुय**) संस्तुति (**थुइ**) स्तुति और (**पसंसणं**) प्रशसा करने स (**णियमं**) नियम से (**सम्महाणि**) सम्यक्त्व की हानि (**होदि**) होती है।

अर्थ– मिथ्यातप, कुलिंगी (मिथ्यादृष्टि साधु), मिथ्या ज्ञानी, मिथ्या व्रत, मिथ्या शील, मिथ्या दर्शन, मिथ्या शास्त्र और झूठे निमित्तों की संस्तुति, स्तुति और प्रशंसा करने से नियम से सम्यक्त्व की हानि होती है।

मिथ्यात्व ही दुःखों का कारण है--

तणुकुट्ठी कुलभंगं, कुणदि जहा मिच्छमप्पणो वि तहा।
दाणादि सुगुणभंग गदिभंगं मिच्छमेव हो कट्ठं।।४८।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ -- (**जहा**) जैसे (**तणुकुट्ठी**) शरीर का कोढ़ी व्यक्ति (**कुलभंगं**) अपने कुल का विनाश (**कुणदि***) कर देता है (**तहा**) उसी प्रकार (**मिच्छं वि**) मिथ्यात्व भी (**अप्पणो**) अपने (**दाणादि सुगुणभंगं**) दान आदि सद्गुणो का विनाश और (**गदिभगं**) सद्गति का विनाश करता है (**हो**) अहो (**मिच्छमेव**) मिथ्यात्व ही (**कट्ठं**) कष्टप्रद है।

अर्थ-- जैसे शरीर का कोढ़ी (अपने रक्त-सम्बन्ध से) अपने कुल का विनाश कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व भी अपनी आत्मा के दान आदि सद्गुणों और सद्गति का विनाश करता है। अहो ! (संसार मे) मिथ्यात्व ही कष्टप्रद है।

---

* कुणदि--प्रा. भा. व्या., पृ. ७४२.

सम्यग्दृष्टि ही धर्म को जानता है-

देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्त-तवायार-मोक्खगइभेयं ।
जिणवयण सुदिट्ठि विणा, दीसइ किं जाणए सम्मं ॥४९॥

अन्वयार्थ – (**देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्त-तवायार-मोक्खगइभेयं**) देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्षगति का रहस्य (**जिणवयण**) जिनदेव के वचन (**सुदिट्ठि विणा**) सम्यग्दृष्टि के बिना (**किं**) क्या (**दीसइ**) दीखते ह; या (**जाणए**) जाने जा सकते हैं (**सम्मं**) सम्यग्दर्शन–ही इन सबको दखता, जानता है ।

अर्थ – देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्षगति का रहस्य और जिनदेव के वचन सम्यग्दृष्टि के बिना क्या देखे या जाने जा सकते है ? सम्यग्दर्शन ही इन सबको देखता और जानता है ।

मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति –

ऍक्क खणं ण वि चिंतदि, मोंक्खणिमित्तं णियप्पसब्भावं ।
अणिसि विचिंतदि पावं, बहुलालावं मणे विचिंतेदि ।।५०।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव (**मोंक्खणिमित्तं**) मोक्ष-प्राप्ति में निमित्तभूत (**णियप्पसब्भावं***) अपने आत्म-स्वभाव का (**ऍक्क खणं वि**) एक क्षण भी (**ण चिंतदि**) चिन्तन नहीं करता (**अणिसि**) दिनरात (**पावं**) पाप का (**विचिंतदि**) चिन्तन करता है तथा (**मणे**) मन में (**बहुलालावं**) दूसरों के बारे में अनेक बातें (**विचिंतेदि**) सोचता रहता है ।

अर्थ – (मिथ्यादृष्टि जीव) मोक्ष-प्राप्ति के निमित्तभूत अपने आत्म-स्वभाव का चिन्तन एक क्षण भी नहीं करता । दिनरात पाप का चिन्तन करता है और मन में (दूसरों के बारे में) अनेक बाते सोचता रहता है ।

---

* सब्भाव—स्वभाव, सद्भाव   पा. स. म., पृ. ८६४.

मिथ्यादृष्टि आत्मा को नहीं जानता-

मिच्छामदि मदमोहासवमत्तो बोल्लदे जहा भुल्लो ।
तेण ण जाणदि अप्पा, अप्पाणं सम्मभावाणं ॥५१॥

अन्वयार्थ – (**मिच्छामदि**) मिथ्यादृष्टि (**मदमोहासवमत्तो**) मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर (**जहा भुल्लो**) भुलक्कड़ के समान (**बोल्लदे**) प्रलाप करता है (**तेण**) इसलिए वह (**अप्पा**) अपनी आत्मा को और (**अप्पाणं**) आत्मा के (**सम्मभावाणं**) साम्य भावों को (**ण जाणदि**) नहीं जानता है।

अर्थ – मिथ्यादृष्टि जीव मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर भुलक्कड़ के समान प्रलाप करता है; इसलिए वह आत्मा को और आत्मा के साम्यभावों को नहीं जानता है।

उपशम भाव से संवर और निर्जरा होती है--

पुव्वट्ठिद खवदि कम्म, पविसदु णो देदि अहिणवं कम्मं ।
इह-परलोय महप्पं, देदि तहा उवसमो भावो ।।५२।।

अन्वयार्थ – (**उवसमो भावो**) भव्य जीवों का उपशम भाव (**पुव्वट्ठिद कम्म**) पूर्व में स्थित/बद्ध कर्मों का (**खवेदि**) क्षय करता है (**अहिणवं कम्मं**) नये कर्मों को (**पविसदु**) प्रवेश करने (**णो देदि**) नहीं देता (**तहा**) तथा (**इह-परलोय महप्पं**) इस लोक और परलोक में माहात्म्य (**देदि**) देता है/प्रगट करता है ।

अर्थ – (भव्य जीवों का) उपशम भाव पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय (निर्जरा) करता है, नये कर्मों को प्रवेश नहीं करने देता (नये कर्मों का संवर करता है) तथा इस लोक और परलोक में माहात्म्य प्रगट करता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञान-वैराग्य में काल बिताता है—

सम्माइट्ठी कालं, बोल्लदि वेरग्गणाणभावेहिं।
मिच्छाइट्ठी वांछा, दुब्भावालस्सकलहेहिं ॥५३॥

अन्वयार्थ—(**सम्माइट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**वेरग्गणाणभावेहिं**) वैराग्य और ज्ञानभाव से (**कालं**) समय को (**बोल्लदि**) बिताता है—(**मिच्छाइट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**वांछा**) आकांक्षा (**दुब्भावालस्स**) दुर्भाव, आलस्य और (**कलहेहिं**) कलह के द्वारा—अपना समय बिताता है।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि वैराग्य और ज्ञानभाव से समय को व्यतीत करता है, (जबकि) मिथ्यादृष्टि आकांक्षा, दुर्भाव, आलस्य और कलह से (अपना) समय बिताता है।

भरत क्षेत्र में पापी अधिक हैं–

अज्जवसप्पिणि भरहे, पउरा रुद्दट्टझाणया दिट्ठा ।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा, पाविट्ठा किण्ह-णील-काओदा ।।५४।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**अज्जवसप्पिणि**) आज/वर्तमान अवसर्पिणी काल में (**भरहे**) भरत क्षेत्र में (**रुद्दट्टझाणया**) रौद्र और आर्तध्यान वाले (**णट्ठा**) नष्ट (**दुट्ठा**) दुष्ट (**कट्ठा**) दु:खी (**पाविट्ठा**) पापी (**किण्ह-णील-काओदा**) कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले (**पउरा**) अधिक मनुष्य (**दिट्ठा**) देखे जाते हैं ।

अर्थ – वर्तमान अवसर्पिणी (काल) मे भरत क्षेत्र में रौद्र और आर्तध्यान वाले, नष्ट, दुष्ट, दु:खी, पापी और कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले मनुष्य अधिक देखे जाते हैं ।

भरत क्षेत्र में सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं–

अज्जअवसप्पिणि भरहे, पंचमयाले मिच्छपुव्वया सुलहा ।
सम्मत्तपुव्व सायारणयारा दुल्लहा होंति ॥५५॥

(चपला)

अन्वयार्थ – (**अज्जअवसप्पिणि**) आज/वर्तमान अवसर्पिणी काल में (**भरहे**) भरत क्षेत्र में (**पंचमयाले**) पंचमकाल में (**मिच्छपुव्वया**) मिथ्यादृष्टि जीव (**सुलहा**) सुलभ हैं; किन्तु (**सम्मत्तपुव्व**) सम्यग्दृष्टि (**सायारणयारा**) गृहस्थ और मुनि (**दुल्लहा**) दुर्लभ (**होंति**) हैं ।

अर्थ – वर्तमान अवसर्पिणी (काल) मे भरत क्षेत्र मे पंचमकाल में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ है, किन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और मुनि दुर्लभ है ।

इस काल में भी धर्मध्यान होता है—

अज्जवसप्पिणि भरहे, धम्मज्झाणं पमादरहिदो त्ति ।
होदि त्ति जिणुद्दिट्ठं, ण हु मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी ।।५६।।

अन्वयार्थ – (**अज्जवसप्पिणि**) आज/वर्तमान अवसर्पिणी काल में (**भरहे**) भरत क्षेत्र में (**धम्मज्झाणं**) धर्मध्यान (**पमादरहिदो त्ति**) प्रमाद-रहित (**होदि**) होता है (**त्ति**) यह (**जिणुद्दिट्ठं**) जिनेन्द्रदेव ने कहा है जो ऐसा (**ण हु**) नही (**मण्णदि**) मानता है (**सो**) वह (**हु**) निश्चय से (**कुद्दिट्ठी**) कुदृष्टि/मिथ्यादृष्टि है।

अर्थ – वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में प्रमाद-रहित धर्मध्यान होता है, यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो ऐसा नहीं मानता है, वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है।

अशुभ और शुभ भावों का फल—

असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुहसुहभावं जाणदु, जं ते रुच्चेव तं कुज्जा ॥५७॥

अन्वयार्थ — (**असुहादो**) अशुभ भावों से (**णिरयाऊ***) नरक आयु (**दु**) और (**सुहभावादो**) शुभ भावों से (**सग्गसुहमाओ**) स्वर्ग-सुख और स्वर्ग आयु मिलती है; अतः (**दुहसुहभावं**) दुःख-सुख भावों को (**जाणदु**) जानो और इनमें (**ते**) तुम्हें (**जं**) जो (**रुच्चेव**) अच्छा लगे (**तं**) उसे (**कुज्जा**) करो।

अर्थ — अशुभ भावों से नरकायु और शुभ भावो से स्वर्ग-सुख और स्वर्गायु (मिलती है), अतः दुःख-सुख भावो को जानो और तुम्हें जो अच्छा लगे, उसे करो।

---

* णिरय—नरक पा. स. म., पृ ४०४.

अशुभ भाव के कारण–

हिंसादिसु कोहादिसु, मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु ।
मच्छरिदेसु मदेसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेस्सेसु ।।५८।।

विकहादिसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु य, जो वट्टदि असुहभावो सो ।।५९।।

अन्वयार्थ – (**हिंसादिसु**) हिंसादि में (**कोहादिसु**) क्रोधादि में (**मिच्छाणाणेसु**) मिथ्याज्ञान में (**पक्खवाएसु**) पक्षपात में (**मच्छरिदेसु**) मात्सर्य में (**मदेसु**) मदों में (**दुरहिणिवेसेसु**) दुरभिनिवेशों मे (**असुहलेस्सेसु**) अशुभ लेश्याओं मे (**विकहादिसु**) विकथाओं में (**रुद्दट्टज्झाणेसु**) आर्त-रौद्र ध्यानों मे (**असुयगेसु**) ईर्ष्या में (**दंडेसु**) असंयमों म (**सल्लेसु**) शल्यों में (**य**) और (**गारवेसु**) मान-बढ़ाई म (**जो वट्टदि**) जो वर्तन होता है (**सो**) वह (**असुहभावो**) अशुभभाव है ।

अर्थ – हिंसादि (पापों), क्रोधादि (कषायों), मिथ्याज्ञान, पक्षपात, मात्सर्य, मदो, दुरभिनिवेशों, अशुभ लेश्याओं, विकथाओ, आर्त-रौद्र ध्यानों, ईर्ष्या, असंयमों, शल्यों और मान-बढ़ाई मे जो वर्तन होता है, वह अशुभ भाव है ।

शुभभाव का लक्षण–

दव्वत्थिकाय छप्पण, तच्चपयत्थेसु सत्तणवगेसु ।
बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥६०॥

रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयादिसद्धम्मे ।
इच्चेव माइगे जो, वट्टदि सो होदि सुहभावो ॥६१॥

अन्वयार्थ – (**छप्पण दव्वत्थिकाय**) छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय (**सत्तणवगेसु तच्चपयत्थेसु**) सात तत्त्व, नौ पदार्थ (**बंधणमोक्खे**) बन्ध और मोक्ष (**तक्कारणरूवे**) उसके कारणरूप (**बारसणुवेक्खे**) बारह अनुप्रेक्षाओं (**रयणत्तयस्सरूवे**) रत्नत्रय-स्वरूप (**अज्जाकम्मे**) आर्यकर्म (**दयादिसद्धम्मे**) दया आदि सद्धर्म (**इच्चेव माइगे**) इत्यादि मे (**जो वट्टदि**) जो वर्तन होता है (**सो**) वह (**सुहभावो**) शुभभाव (**होदि**) होता है ।

अर्थ – छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, बन्ध और मोक्ष, उसके (मोक्ष के) कारणरूप बारह अनुप्रेक्षा, रत्नत्रय स्वरूप, आर्यकर्म, दया आदि सद्धर्म इत्यादि में जो वर्तन होता है, वह शुभभाव होता है ।

सम्यक्त्व से सुगति होती है—

सम्मत्तगुणाइ सुगदि, मिच्छादो होदि दुग्गदी णियमा ।
इदि जाण किमिह बहुणा, जं रुच्चदि तं कुज्जाहो ॥६२॥

अन्वयार्थ – (**सम्मत्तगुणाइ**) सम्यक्त्व गुण से (**णियमा**) नियम से (**सुगदि**) सुगति और (**मिच्छादो**) मिथ्यात्व से (**दुग्गदी**) दुर्गति (**होदि**) होती है (**इदि**) यह (**जाण**) जान (**इह**) यहाँ (**बहुणा किं**) अधिक कहने से क्या (**जं**) जो (**रुच्चदि**) अच्छा लगे (**तं**) वह (**कुज्जाहो**) कर ।

अर्थ – सम्यक्त्व गुण से नियम से सुगति और मिथ्यात्व से दुर्गति होती है— यह जान । यहाँ अधिक कहने से क्या लाभ है ? जो तुझे अच्छा लगे, वह कर ।

मोह नष्ट किये बिना संसार से पार नहीं होता–

मोह ण छिज्जदि अप्पा, दारुणकम्मं करेदि बहुवारं।
ण हु पावदि भवतीरं, किं बहुदुक्खं वहेदि मूढमदी ॥६३॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**अप्पा**) यह आत्मा (**मोह**) मोह को (**छिद्दवि ण**) नष्ट नही करता है (**दारुणकम्मं**) दारुण कर्म-व्रत उपवासादि (**बहु-वारं**) अनेक बार (**करेदि**) करता है (**हु**) निश्चय से वह (**भवतीरं**) संसार-समुद्र का किनारा (**ण पावदि**) नहीं पाता; फिर (**मूढमदी**) यह मूर्ख (**बहुदुक्खं**) अनेक दुःख (**किं वहेदि**) क्यों उठाता है?

अर्थ – यह आत्मा मोह को नष्ट नही करता है और कठोर कर्म (व्रत उपवासादि) अनेक बार करता है। निश्चय ही यह संसार (समुद्र) का किनारा नही पाता, (फिर) यह मूर्ख अनेक दुःख क्यों उठाता है?

बहिरात्मा के व्रताचरणादि निष्फल हैं–

धरियउ बाहिरलिंगं, परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि ।
करियउ किरियाकम्मं, मरियउ जम्मियउ बहिरप्प जीवो ।।६४।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**बहिरप्प जीवो**) वहिरात्मा जीव (**बाहिरलिंगं**) बाह्य लिंग/द्रव्यलिंग को (**धरियउ**) धारणकर (**बाहिरक्खसोक्खं हि**) बाह्य इन्द्रियों के सुख को ही (**परिहरियउ**) छोड़कर (**किरियाकम्मं**) क्रियाकाण्ड-व्रताचरणादि (**करियउ**) करता हुआ (**जम्मियउ मरियउ**) जन्म-मरण करता रहता है ।

अर्थ – बहिरात्मा जीव बाह्यलिंग (द्रव्यलिंग-मुनिवेश) धारण कर, बाह्य इन्द्रियों के सुख को ही छोड़कर क्रियाकाण्ड (बाह्य व्रताचरणादि) करता हुआ जन्म-मरण करता रहता है (एक सम्यग्दर्शन के बिना सब निष्फल है) ।

मिथ्यात्व के कारण मोक्ष-सुख नहीं—

मोंक्खणिमित्तं दुक्खं, वहेदि परलोयदिट्ठि तणुदंडी ।
मिच्छाभाव ण छिज्जदि, किं पावदि मोंक्खसोंक्खं हि ॥६५॥

अन्वयार्थं – (**परलोयदिट्ठि**) परलोक पर दृष्टि रखने वाला/परलोक में सुखों की अभिलाषा करने वाला (**तणुदंडी**) अनेक काय-क्लेश सहन करने वाला/मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा (**मोंक्खणिमित्तं**) मोक्ष पाने के निमित्त (**दुक्खं**) दु:ख (**वहेदि**) सहन करता है; किन्तु वह (**मिच्छाभाव**) मिथ्यात्व-भाव को (**ण छिज्जदि**) नष्ट नहीं करता–तब वह (**किं**) क्या (**हि**) निश्चय से/वस्तुत: (**मोंक्खसोंक्खं**) मोक्ष-सुख को (**पावदि**) प्राप्त करता है ?

अर्थ – परलोक पर दृष्टि रखने वाला (परलोक में सुखों की अभिलाषा करने वाला), अनेक काय-क्लेश सहन करने वाला (मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा) मोक्ष पाने के निमित्त दु:ख सहन करता है (किन्तु वह) मिथ्यात्व भाव को नष्ट नहीं करता। (तब वह) क्या निश्चय से (वस्तुत:) मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है ?

कषाय के नाश से कर्मों का नाश-

ण हु दंडदि कोहादि, देहं दंडदि कहं खवदि कम्मं ।
सप्पो किं मुवदि तहा, वम्मीए मारदे लोए ॥६६॥

अन्वयार्थ – बहिरात्मा (**कोहादि**) क्रोधादि को (**ण हु**) नहीं (**दंडदि**) दण्ड देता, निग्रह करता (**देहं**) देह को (**दंडदि**) दण्ड देता है, तब वह (**कम्मं**) कर्मों को (**कहं**) किस प्रकार (**खवदि**) नष्ट कर सकता है (**तहा**) जैसे (**लोए**) लोक में (**वम्मीए**) वामी सांप के बिल को (**मारदे**) मारने पर, नष्ट करने पर (**किं**) क्या (**सप्पो**) सर्प (**मुवदि**) मरता है ?

अर्थ – (बहिरात्मा) क्रोधादि को दण्ड नही देता (निग्रह नही करता), देह को दण्ड देता है । (तब वह) कर्मों को किस प्रकार नष्ट कर सकता है । जैसे लोक में वामी (सांप के बिल) को मारने पर (नष्ट करने पर) क्या सांप मरता है ?

संयम उपशम भाव से होता है-

उवसमतवभावजुदो, णाणी सो ताव संजदो होदि ।
णाणी कसायवसगो, असंजदो होदि सो ताव ।।६७।।

अन्वयार्थ – (**णाणी**) ज्ञानी (**उवसमतवभावजुदो**) उपशम और तपभाव से युक्त है (**सो**) वह (**ताव**) तब (**संजदो**) संयमी (**होदि**) है; (**णाणी**) ज्ञानी (**कसायवसगो**) जब कषाय के वशीभूत रहता है (**ताव**) तब (**सो**) वह (**असंजदो**) असंयमी (**होदि**) होता है– रहता है।

अर्थ – ज्ञानी (जब) उपशम और तपभाव से युक्त रहता है, तभी वह संयमी है, (किन्तु) जब वह कषाय के वशीभूत रहता है, तब असयमी रहता है।

मात्र ज्ञान से कर्म-क्षय नहीं होता–

णाणी खवेदि कम्मं, णाणबलेणेदि बोल्लदे अण्णाणी।
वेज्जो भेसज्जमहं, जाणे इदि णस्सदे वाही ॥६८॥
(चपला)

अन्वयार्थ – (**णाणी**) ज्ञानी (**णाणबलेण**) ज्ञान की शक्ति से (**कम्मं**) कर्मों का (**खवेदि**) क्षय करता है (**इदि**) इस प्रकार (**अण्णाणी**) अज्ञानी (**बोल्लदे**) कहता है–जैसे (**अहं**) मैं (**भेसज्जं**) औषधि (**जाणे**) जानता हूँ (**इदि**) इतने कहने मात्र से–क्या (**वेज्जो**) वैद्य–कहीं (**वाही**) व्याधि को (**णस्सदे**) नष्ट कर देता है?

अर्थ–ज्ञानी ज्ञान की शक्ति से कर्मों का क्षय करता है, इस प्रकार अज्ञानी कहता है, (जैसे) 'मैं औषधि जानता हूँ' इतना कहने मात्र से (क्या) वैद्य व्याधि को नष्ट कर देता है?

कर्म-नाश का क्रमिक उपाय-

पुव्वं सेवदि मिच्छा-मलसोहणहेदु सम्म-भेसज्जं।
पच्छा सेवदि कम्मामयणासणचरिय-भेसज्जं ॥६९॥

अन्वयार्थ – (**पुव्वं**) पहले (**मिच्छामलसोहणहेदुसम्म-भेसज्जं**) मिथ्यात्व रूपी मल के शोधन की कारण सम्यक्त्व रूपी औषधि का (**सेवदि**) सेवन किया जाता है (**पच्छा**) पश्चात् (**कम्मामयणासण-चरिय-भेसज्जं**) कर्मरूपी व्याधि का नाश करने के लिये चारित्र रूपी औषधि का (**सेवदि**) सेवन किया जाता है।

अर्थ – पहले मिथ्यात्व रूपी मल के शोधन की कारणभूत सम्यक्त्व रूपी औषधि का सेवन किया जाता है; पश्चात् कर्म रूपी व्याधि का नाश करने के लिए चारित्र रूपी औषधि का सेवन किया जाता है।

अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी का माहात्म्य–

अण्णाणीदो विसयविरत्तादो होदि सयसहस्सगुणो।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥७०॥

अन्वयार्थ – (**विसयविरत्तादो**) विषयों से विरक्त (**अण्णाणीदो**) अज्ञानी की अपेक्षा (**विसयासत्तो**) विषयों में आसक्त; किन्तु (**कसायविरदो**) कषाय से विरक्त (**णाणी**) ज्ञानी (**सयसहस्सगुणो**) लाख गुना फल (**होदि**) होता है/प्राप्त करता है (**जिणुद्दिट्ठं**) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ – विषयों से विरक्त अज्ञानी की अपेक्षा विषयों में आसक्त (किन्तु) कषायों से विरक्त ज्ञानी लाख गुना (फल) प्राप्त करता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

वैराग्यहीन त्याग का निषेध-

विणओ भत्तिविहीणो, महिलाणं रोदणं विणा णेहं।
चागो वेरग्ग विणा, एदेदो वारिआ भणिदा ॥७१॥

अन्वयार्थ – (**भत्तिविहीणो**) भक्ति के बिना (**विणओ**) विनय (**णेहं विणा**) स्नेह के बिना (**महिलाणं**) महिलाओं का (**रोदणं**) रुदन और (**वेरग्ग विणा**) वैराग्य के बिना (**चागो**) त्याग (**एदेदो**) ये (**वारिआ***) प्रतिषिद्ध (**भणिदा**) कहे गये है।

अर्थ – भक्तिविहीन विनय, स्नेह के बिना महिलाओं का रुदन (और) वैराग्य के बिना त्याग–ये प्रतिषिद्ध कहे गये है।

* वारिअ–निवारित, प्रतिषिद्ध —पा स म, पृ. ७६०

संयमहीन मुनि कुछ नहीं पाता–

सुहडो सूरत्त विणा, महिला सोहग्गरहिद परिसोहा ।
वेरग्ग-णाण-संजम हीणा खवणा ण किं पि लब्भंते ।।७२।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**सूरत्त विणा**) शूरता के बिना (**सुहडो**) योद्धा (**सोहग्गरहिद**) सौभाग्य रहित (**महिला परिसोहा**) महिला की शोभा (**वेरग्ग-णाण-संजम हीणा**) वैराग्य, ज्ञान और संयम से रहित (**खवणा**) क्षपणक/मुनि (**किं पि**) कुछ भी (**ण**) नही (**लब्भंते**) प्राप्त करते ।

अर्थ – शूरता के बिना योद्धा, सौभाग्यरहित स्त्रियो की शोभा और वैराग्य, ज्ञान और संयम से हीन मुनि कुछ भी प्राप्त नही करते ।

अज्ञानी को सुख नहीं–

वत्थुसमग्गो मूढो, लोही लब्भदि फलं जहा पच्छा ।
अण्णाणी जो विसयासत्तो लहदि तहा चेवं ॥७३॥

अन्वयार्थ – (**जहा**) जैसे (**वत्थुसमग्गो***) समस्त पदार्थों से युक्त (**मूढो**) मूर्ख (**लोहो**) लोभी मनुष्य (**पच्छा**) बाद में (**फलं**) फल (**लब्भदि**) पाता है (**तहा**) उसी प्रकार (**जो**) जो (**विसया-सत्तो**) विषयासक्त (**अण्णाणी**) अज्ञानी है–वह (**चेवं लहदि**) पीछे फल पाता है ।

अर्थ – जैसे समस्त पदार्थों से युक्त (समस्त पदार्थ रहने पर भी) मूर्ख लोभी मनुष्य बाद में फल पाता है (जीवन मे सुख नही भोग पाता), वैसे ही जो विषयासक्त अज्ञानी है, वह पीछे फल पाता है (जीवन में सुख नही भोग पाता) ।

---

* समग्ग—समस्त, युक्त, सहित –पा स. म , पृ. ८६५

सुपात्रदान और विषयो के त्याग का फल समान है–

वत्थुसमग्गो णाणी, सुपत्तदाणी फलं जहा लहदि ।
णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहदि तहा चेव ।।७४।।

अन्वयार्थ – (**जहा**) जैसे (**वत्थुसमग्गो**) समस्त पदार्थो से युक्त (**सुपत्तदाणी**) सुपात्रों को दान देने वाला (**णाणी**) ज्ञानी (**फलं**) फल (**लहदि**) पाता है (**तहा**) वैसे (**चेव**) ही (**विसयपरिचत्तो**) विषयो का त्यागी (**णाणसमग्गो**) ज्ञान से युक्त ज्ञानी (**लहदि**) फल पाता है ।

अर्थ – जैसे समस्त पदार्थों से युक्त (समस्त पदार्थ होने पर भी) सुपात्रों को दान देने वाला ज्ञानी फल प्राप्त करता है, वैसा ही फल विषयों का त्यागी ज्ञानी प्राप्त करता है ।

रत्नत्रय से लोभ का विरोध–

भू-महिला-कणयादि-लोहाहि-विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्त-णाण-वेरग्गोसहमंतेण जिणुद्दिट्ठं ॥७५॥

(गाहिनी)

अन्वयार्थ – (**भू**) जमीन (**महिला**) स्त्री (**कणयादि**) स्वर्ण आदि के (**लोहाहि विसहरं**) लोभ रूपी सर्प और विषधर सर्प को (**कहं पि हवे**) चाहे वह सर्प कैसा ही हो (**सम्मत्तणाणवेरग्गोसह मंतेण**) सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्य रूपी औषधि और मंत्र से वश में किया जा सकता है (**जिणुद्दिट्ठं**) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ – भूमि, स्त्री, स्वर्ण आदि के लोभ रूपी सर्प और विषधर सर्प को– चाहे वह सर्प कैसा ही हो–सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्य (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) रूपी औषधि और मन्त्र से (वश में किया जा सकता है), ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

मुनि-दीक्षा से पूर्व योगों का निग्रह आवश्यक है—

पुव्वं जो पंचिंदिय, तणु-मण-वचि-हत्थ-पाय-मुंडाओ।
पच्छा सिर मुंडाओ, सिवगदिपहणायगो होदि ॥७६॥

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**पुव्वं**) पहले (**पंचिंदियतणुमण-वचिहत्थपाय-मुंडाओ**) पांचों इन्द्रियों, शरीर, मन, वचन, हाथ, पैरों को मूंडता है, वश में करता है (**पच्छा**) पश्चात् (**सिर मुंडाओ**) सिर मुँडाता—है, केशलुंचन करता है—वह (**सिवगदि पहणायगो**) मोक्ष-मार्ग का नेता (**होदि**) होता है।

अर्थ – जो मनुष्य पहले पांचों इन्द्रियों, शरीर, मन, वचन, हाथ और पैरों को मूंडता है (वश में करता है) और पश्चात् सिर मुंडाता है (केशलुंचन करके मुनि-दीक्षा लेता है), वह मोक्ष-मार्ग का नेता होता है।

भक्ति के बिना सुगति नहीं–

पविभत्तिविहीण सदी, भिच्चो जिणसमयभत्तिहीण जण्णो ।
गुरुभत्तिहीण सिस्सो, दुग्गदिमग्गाणुलग्गओ णियदं ।।७७।।

(सिंहनी)

अन्वयार्थ – (**पविभत्तिविहीण**) स्वामी की भक्ति से विहीन (**सदी**) सती और (**भिच्चो**) भृत्य; (**जिणसमयभत्तिहीण**) जिनेन्द्रदेव और शास्त्र की भक्ति से विहीन (**जण्णो**) जैन; (**गुरुभत्तिहीण**) गुरु की भक्ति से विहीन (**सिस्सो**) शिष्य (**णियदं**) नियम से (**दुग्गदिमग्गाणुलग्गओ**) दुर्गति के मार्ग में संलग्न है ।

अर्थ – स्वामी की भक्ति से विहीन सती और भृत्य, जिनेन्द्रदेव और शास्त्र की भक्ति से विहीन जैन; और गुरु की भक्ति से विहीन शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग में संलग्न है ।

गुरु-भक्ति के बिना चारित्र निष्फल है–

गुरुभत्तिविहीणाणं, सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं।
ऊसरखेत्ते ववियं सुवीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं ॥७८॥

अन्वयार्थ – (**सव्वसंगविरदाणं**) सब परिग्रह से रहित; किन्तु (**गुरुभत्ति विहीणाणं**) गुरु-भक्ति से विहीन (**सिस्साणं**) शिष्यों के (**सव्वणुट्ठाणं**) सभी अनुष्ठान–जप तप व्रत आदि (**ऊसरखेत्ते**) ऊसर खेत में (**ववियं**) बोये हुए (**सुवीयसमं**) उत्तम बीज के समान (**जाण**) जानो।

अर्थ – समस्त परिग्रह (बाह्य और आभ्यंतर) से रहित, किन्तु गुरु-भक्ति से विहीन शिष्यों के सभी अनुष्ठान (जप तप व्रत आदि) ऊसर खेत में बोये हुए उत्तम बीज के समान जानो।

गुरु-भक्ति के बिना चारित्र निष्फल है–

रज्जं पहाणहीणं, पदिहीणं देसगामरट्ठबलं ।
गुरुभत्तिहीण सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥७१॥

अन्वयार्थ – (**पहाणहीण**) प्रधान/राजा से विहीन (**रज्जं**) राज्य, (**पदिहीण**) स्वामी से विहीन (**देसगामरट्ठबलं**) देश, ग्राम, राष्ट्र और सेना, (**गुरुभत्तिहीण**) गुरु-भक्ति से विहीन (**सिस्सा**) शिष्यों के (**सव्वं**) समस्त (**अणुट्ठाणं**) अनुष्ठान (**णस्सदे**) नष्ट हो जाते है ।

अर्थ – प्रधान (राजा) से विहीन राज्य, स्वामी-विहीन देश, ग्राम, राष्ट्र और सेना, तथा गुरु-भक्ति से विहीन शिष्यों के समस्त अनुष्ठान नष्ट हो जाते है ।

गुरु-भक्ति के बिना चारित्र निष्फल है–

सम्माण विणा रुइ भत्ति विणादाणं दया विणा धम्मो ।
गुरु-भत्ति विणा तव-गुण-चारित्तं णिप्फलं जाण ॥८०॥

अन्वयार्थ – (**सम्माण विणा**) सम्मान-आदरभाव के बिना (**रुइ**) रुचि/प्रेम, (**भत्ति विणा**) भक्ति के बिना (**दाणं**) दान, (**दया विणा**) दया के बिना (**धम्मो**) धर्म, (**गुरु-भत्ति विणा**) गुरु भक्ति के बिना (**तव-गुण-चारित्तं**) तप, गुण, चारित्र (**णिप्फलं**) निष्फल (**जाण**) जानो ।

अर्थ – सम्मान (आदरभाव) के बिना रुचि (प्रेम), भक्ति के बिना दान, दया के बिना धर्म और गुरु के बिना तप, गुण, चारित्र निष्फल जानो ।

हेयोपादेय-विवेक की आवश्यकता–

हीणादाणवियारविहीणादो बाहिरक्खसोक्खं हि।
किं तजियं किं भजियं, किं मोक्खं ण दिट्ठं जिणुद्दिट्ठं ॥८१॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**हीणा*दाणवियारविहीणादो**) निन्द्य और ग्राह्य का विचार न होने से (**हि**) निश्चय से (**बाहिरक्खसोक्खं**) बाह्य इन्द्रियों के सुख को ही–सुख मानते है (**किं तजियं**) क्या त्याज्य है (**किं भजिय**) क्या उपादेय है (**किं मोक्खं**) मोक्ष क्या है–उसे (**ण दिट्ठं**) नही दखा-जाना (**जिणुद्दिट्ठं**) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ – निन्द्य और ग्राह्य का विचार न होने से निश्चय से बाह्य इन्द्रियों के सुख को ही (सुख मानते है)। क्या त्याज्य है, क्या ग्राह्य है, मोक्ष क्या है, उसे नही जाना, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

---

* हीण—निन्द्य —पा. स. म., पृ. ६४८
आदाण—ग्राह्य— „ „ पृ. ११५

आत्मरुचि कर्म-क्षय करती है–

कायकिलेसुववासं, दुद्धरतवयरणकारणं जाण।
तं णियसुद्धप्परुई, परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं ॥८२॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**कायकिलेसुववासं**) कायक्लेश और उपवास (**दुद्धरतवयरणकारणं**) कठोर तपश्चरण के कारण हैं (**जाण**) ऐसा जानो (**च**) और (**तं**) वे (**णियसुद्धप्परुई**) निज शुद्ध आत्मा की रुचि होने पर (**परिपुण्णं**) समस्त (**कम्मणिम्मूलं**) कर्मों के नाश के कारण होते हैं। (**चेदि**) ऐसा जानो।

अर्थ – कायक्लेश और उपवास कठोर तपश्चरण के कारण होते हैं–ऐसा जानो–और निज शुद्ध आत्मा की रुचि होने पर वे समस्त कर्मों के नाश के कारण होते हैं–ऐसा जानो।

आत्म-ज्ञान के बिना दुःख है—

जाव ण जाणदि अप्पा, अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव ।
तेण अणंतसुहाणं, अप्पाणं भावए जोई ।।८५।।

अन्वयार्थ — (**जाव**) जब तक (**अप्पा**) आत्मा (**अप्पाणं**) आत्मा को (**ण जाणदि**) नहीं जानता है (**ताव**) तब तक (**अप्पणो**) आत्मा को (**दुक्खं**) दुःख है (**तेण**) इसलिए (**जोई**) योगी/साधु को (**अणंतसुहाणं**) अनन्त सुख स्वभावी (**अप्पाणं**) आत्मा की (**भावए**) भावना करनी चाहिये ।

अर्थ — जब तक आत्मा को (अपने आपको) नहीं जानता है, तब तक आत्मा को दुःख है; इसलिए योगी (साधु) को अनन्तसुखस्वभावी आत्मा की भावना करनी चाहिये ।

आत्मस्वरूप प्राप्त होने पर सम्यक्त्व होता है–

णियतच्चुवलद्धि विणा, सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धि विणा, णिव्वाणं णत्थि णियमेण ।।८६।।

अन्वयार्थ – (**णियतच्चुवलद्धि विणा**) निजतत्त्व/आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बिना (**णियमेण**) नियम से (**सम्मत्तुवलद्धि**) सम्यक्त्व की प्राप्ति (**णत्थि**) नहीं होती (**सम्मत्तुवलद्धि विणा**) सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना (**णियमेण**) नियम से (**णिव्वाणं**) निर्वाण (**णत्थि**) नहीं होता ।

अर्थ – निज तत्त्व (आत्मस्वरूप) की प्राप्ति के बिना नियम से सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती । सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना नियम से निर्वाण नहीं होता ।

आत्म-ज्ञान के बिना बाह्य लिंग व्यर्थ है-

कम्मं ण खवेवि जो परब्रह्म* ण जाणदि सम्मउम्मुक्को ।
अत्थ ण तत्थ ण जीवो, लिंगं घेत्तूण किं करेदि ।।८३।।

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**परब्रह्म**) आत्मा परमात्मा को (**ण**) नहीं (**जाणदि**) जानता है, और (**सम्मउम्मुक्को**) सम्यक्त्व से रहित है, वह (**कम्मं**) कर्मों का (**ण खवेदि**) क्षय नहीं करता (**जीवो**) ऐसा जीव (**अत्थ ण तत्थ ण**) न यहाँ का है, न वहाँ का है वह (**लिंगं**) लिंग को (**घेत्तूण**) ग्रहण करके (**किं करेदि**) क्या करता है ?

अर्थ - जो परब्रह्म (आत्मा, परमात्मा) को नहीं जानता और सम्यक्त्व से रहित है, वह कर्मों का नाश नहीं करता है । ऐसा जीव न यहाँ का है, न वहाँ का है । वह लिंग (बाह्यवेश) को धारण करके क्या करता है ?

---

* बम्हु ।

आत्म-ज्ञान के बिना बाह्य लिंग व्यर्थ है—

अप्पाणं पि ण पेॅच्छदि, ण मुणदि ण वि सद्दहदि ण भावेदि ।
बहुदुक्खभारमूलं, लिंगं घेॅत्तूण किं करेदि ।।८४।।

अन्वयार्थ – जो साधु (**अप्पाणं**) आत्मा को (**पि**) भी (**ण पेॅच्छदि**) नहीं देखता है (**ण मुणदि**) न उसका मनन करता है (**ण वि सद्दहदि**) न ही श्रद्धान करता है (**ण भावेदि**) न भावना करता है तो वह (**बहुदुक्खभारमूलं**) अत्यन्त दुःख-भार के कारण (**लिंगं**) बाह्य वेश को (**घेॅत्तूण**) धारण करके (**किं करेदि**) क्या करता है ?

अर्थ – जो साधु अपनी आत्मा को भी नहीं देखता है, न उसका मनन करता है, न ही श्रद्धान करता है, न भावना करता है, तो वह अत्यन्त दुःख-भार के कारणस्वरूप बाह्य वेश को धारण करके क्या करता है ?

ज्ञानाभ्यास से मोक्ष होता है-

णाणब्भास विहीणो, सपरं तच्चं ण जाणदे किं पि।
झाणं तस्स ण होदि हु, ताव ण कम्मं खवेदि ण हु मोक्खं ॥८९॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**णाणब्भास विहीणो**) ज्ञानाभ्यास से विहीन-जीव (**सपरं**) स्व और पर (**तच्चं**) तत्त्व को (**किं पि**) कुछ भी (**ण**) नहीं (**जाणदे**) जानता है (**तस्स**) उसके (**हु**) निश्चय से (**झाणं**) ध्यान (**ण होदि**) नही होता है (**ताव**) तब तक (**कम्मं**) कर्मों को (**ण खवेदि**) नष्ट नही करता (**ण हु मोक्खं**) न ही मोक्ष होता है।

अर्थ – ज्ञानाभ्यास से विहीन (जीव) स्व-पर तत्त्व को कुछ भी नही जानता है। निश्चय ही उसके ध्यान नही होता है। तब तक कर्मों को नष्ट नही करता और न ही मोक्ष होता है।

भावार्थ – ज्ञानाभ्यास के बिना स्व-पर की पहचान नही होती। स्वपर की पहचान के बिना ध्यान नही होता। ध्यान के बिना कर्मों का नाश नही होता। कर्मों का नाश किये बिना मोक्ष नही होता।

स्वाध्याय ही ध्यान है–

अज्झयणमेव झाणं, पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमयाले, पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो ॥९०॥

(गाहिणी)

अन्वयार्थ – (**अज्झयणमेव**) शास्त्रों का अध्ययन ही (**झाणं**) ध्यान है–उसीसे (**पंचेंदियणिग्गहं**) पंचेन्द्रियों का निग्रह (**कसायं पि**) और कषायों का भी निग्रह होता है (**तत्तो**) इसलिए (**पंचमयाले**) इस पंचम काल में (**पवयणसारब्भासमेव**) प्रवचनसार-जिनागम का ही अभ्यास (**कुज्जाहो***) करना चाहिये।

अर्थ – (जिनागम का) अध्ययन ही ध्यान है। (उसी से) पंचेन्द्रियों का और कषायों का भी निग्रह होता है, इसलिए इस पंचम काल मे प्रवचनसार (जिनागम) का ही अभ्यास करना चाहिये।

* कुज्जाहो–विधि लिङ मे कुज्जाह बनता है। छन्द की दृष्टि से कुज्जाहो बना दिया है।

ज्ञान के बिना तप की शोभा नहीं–

सालविहोणो राओ, दाणदयाधम्मरहिव गिहिसोहा ।
णाणविहीण तवो वि य, जीव विणा देहसोहं ण ।।८७।।

अन्वयार्थ – (**सालविहोणो**) दुर्ग के बिना (**राओ**) राजा की (**दाणदयाधम्मरहिव**) दान, दया, धर्म से रहित (**गिहिसोहा**) गृहस्थ की शोभा नही होती (**य**) और (**णाणविहीण तवो वि**) ज्ञान मे रहित तप की भी; और (**जीव विणा**) जीव के बिना (**देहसोहं**) देह की शोभा (**ण**) नहीं होती ।

अर्थ – दुर्ग के बिना राज्य की और दान, दया, धर्म के बिना गृहस्थ की शोभा नही होती । ज्ञान से रहित तप की और जीव के बिना देह की शोभा नही होती ।

परिग्रही साधु दुःख पाता है—

मक्खी सिलिम्मि पडिदो, मुवदि जहा तह परिग्गहे पडिदो।
लोही मूढो खवणो, कायकिलेसेसु अण्णाणी ॥८८॥

अन्वयार्थ – (**जहा**) जैसे (**सिलिम्मि**) श्लेष्मा में (**पडिदो**) गिरी हुई (**मक्खी**) मक्खी (**मुवदि**) मर जाती है (**तह**) उसी प्रकार (**परिग्गहे**) परिग्रह में (**पडिदो**) पड़ा हुआ (**लोही**) लोभी (**मूढो**) मूढ़ (**अण्णाणी**) अज्ञानी (**खवणो**) साधु (**कायकिलेसेसु**) काय-क्लेश में मरता है।

अर्थ – जैसे श्लेष्मा में गिरी हुई मक्खी (दुःख भोगती हुई) मर जाती है, उसी प्रकार परिग्रह में पड़ा हुआ (आसक्त) लोभी, मूढ़, अज्ञानी साधु कायक्लेश में मरता है।

मुनि तत्त्व-विचार में लीन रहते हैं–

तच्चवियारणसीलो, मोक्खपहाराहणसहावजुदो ।
अणवरयं धम्मकहापसंगओ होदि मुणिराओ ।।९३।।

अन्वयार्थ – (**मुणिराओ**) मुनिराज (**तच्चवियारणसीलो**) तत्त्व की विचारणा करने वाले (**मोक्खपहाराहणसहाव जुदो**) मोक्ष-पथ की आराधना के स्वभाव वाले और (**अणवरयं**) निरन्तर (**धम्म-कहापसंगओ***) धर्म-कथाओं के परिचायक (**होदि**) होते हैं ।

अर्थ – मुनिराज तत्त्व की विचारणा करने वाले, मोक्ष-पथ की आराधना के स्वभाव वाले और निरन्तर धर्म-कथाओं के परिचायक हैं ।

---

* पसंग—परिचय - पा स. म , पृ. ५७८

मुनि की धर्ममय प्रवृत्ति-

विकहादिविप्पमुक्को, आहाकम्मादि विरहिदो णाणी ।
धम्मुद्देसणकुसलो, अणुपेहाभावणाजुदो जोई ॥९४॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**जोई**) योगी-मुनिराज (**विकहादिविप्पमुक्को**) विकथा आदि से पूर्णतः मुक्त होता है (**आहाकम्मादि विरहिदो**) अध:कर्म आदि से रहित होता है; (**णाणी**) सम्यक्ज्ञानी होता है (**धम्मुद्देसणकुसलो**) धर्मोपदेश देने में कुशल होता है; और (**अणुपेहाभावणाजुदो**) बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में निरत रहता है ।

अर्थ – योगी (मुनिराज) विकथा आदि से पूर्णतः मुक्त होता है, अध कर्म आदि से रहित होता है, सम्यक्ज्ञानी होता है, धर्मोपदेश देने में कुशल होता है और बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन मे निरत रहता है ।

ज्ञान ही धर्मध्यान है—

पावारंभणिवित्ती, पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं, जिणभणिदं सव्वजीवाणं ॥९१॥

अन्वयार्थ – (**पावारंभणिवित्ती**) पापारंभ—हिंसादि कार्य से निवृत्ति—और (**पुण्णारंभे**) पुण्य कार्यों मे (**पउत्तिकरणं पि**) प्रवृत्ति करने का कारण (**णाणं**) ज्ञान ही है—इसलिए ज्ञान को ही (**सव्वजीवाणं**) सब जीवों के लिए (**धम्मज्झाणं**) धर्मध्यान (**जिणभणिदं**) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ – पापारम्भ (हिंसादि कार्य) से निवृत्ति और पुण्यकार्यों मे प्रवृत्ति का कारण ज्ञान ही है। (इसलिए ज्ञान को ही) सब जीवो के लिए जिनेन्द्रदेव ने धर्मध्यान कहा है।

श्रुतज्ञान के बिना सम्यक् तप नहीं–

सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि सम्मं ण होदि तवयरणं ।
कुव्वंतो मूढमदी, संसारसुहाणुरत्तो सो ।।९२।।

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**सुदणाणब्भासं**) श्रुतज्ञान/जिनागम का अभ्यास (**ण कुणदि**) नहीं करता है–उसके (**तवयरणं**) तपश्चरण (**सम्मं**) सम्यक् (**ण होदि**) नहीं होता है (**कुव्वंतो**) श्रुतज्ञान का अभ्यास किये बिना तपश्चरण करने वाला (**सो मूढमदी**) वह अज्ञानी (**संसारसुहाणुरत्तो**) सांसारिक सुखों में अनुरक्त है ।

अर्थ – जो जिनागम का अभ्यास नहीं करता है, उसके सम्यक् तपश्चरण नहीं होता है। (श्रुतज्ञान का अभ्यास किये बिना तपश्चरण) करने वाला वह अज्ञानी सांसारिक सुखों में अनुरक्त है।

मिथ्यातप से मुक्ति नहीं मिलती—

तिव्वं कायकिलेसं, कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो ।
सव्वण्हुवदेसे सो, णिव्वाणसुहं ण गच्छेदि ।।९७।।

अन्वयार्थ – जो (**तिव्वं**) तीव्र (**कायकिलेसं**) कायक्लेश (**कुव्वंतो**) करता हुआ भी यदि (**मिच्छभावसंजुत्तो**) मिथ्यात्व-भाव से युक्त है, तो (**सो**) वह (**सव्वण्हुवदेसे**) सर्वज्ञदेव के उपदेश में (**णिव्वाणसुहं**) मोक्ष-सुख को (**ण गच्छेदि**) प्राप्त नहीं करता ।

अर्थ – जो तीव्र कायक्लेश करता हुआ भी (यदि) मिथ्यात्व-भाव से युक्त है, तो वह सर्वज्ञदेव के उपदेश में मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं करता ।

रागी को आत्म-दर्शन नहीं होता—

रायादिमलजुदाणं, णियप्पस्वं ण दिस्सदे किं पि।
समलादरिसे रूवं, ण दिस्सदे जह तहा णेयं ॥९८॥

अन्वयार्थ — (**रायादिमलजुदाणं**) रागादि मल से युक्त जीवों को (**णियप्परूवं**) अपना आत्मस्वरूप (**किं पि**) कुछ भी (**णि दिस्सदे**) दिखायी नहीं देता (**जह**) जैसे (**समलादरिसे**) मलिन दर्पण में (**रूवं**) रूप (**ण दिस्सदे**) दिखायी नहीं देता (**तहा**) वैसा ही (**णेयं**) समझना चाहिये।

अर्थ — रागादि मल से युक्त जीवों को अपना आत्मस्वरूप कुछ भी दिखायी नहीं देता। जैसे मलिन दर्पण में रूप दिखायी नहीं देता; उसी प्रकार (इसे) समझना चाहिये।

मुनि का स्वरूप–

णिंदावंचणदूरो, परिसह-उवसग्ग-दुक्खसहमाणो।
सुहझाणज्झयणरदो, गदसंगो होदि मुणिराओ ॥९५॥

अन्वयार्थ – (**मुणिराओ**) मुनिराज (**णिंदावंचणदूरो**) निन्दा और वंचना से दूर रहते हैं (**परिसह-उवसग्ग-दुक्खसहमाणो**) परीषह, उपसर्ग और दु:खों को सहन करते हैं (**सुहझाणज्झयणरदो**) शुभ ध्यान और अध्ययन में निरत रहते हैं (**गदसंगो**) अन्त:बाह्य परिग्रह से रहित (**होदि**) होते हैं।

अर्थ – मुनिराज निन्दा और वंचना से दूर रहते हैं; परीषह, उपसर्ग और दु:खों को सहन करते हैं; शुभ ध्यान और अध्ययन में निरत रहते हैं और अन्त:बाह्य परिग्रह से रहित होते हैं।

मुनि योगी होता है—

अवियप्पो णिद्दंदो, णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो ।
णिम्मलसहावजुदो, जोई सो होदि मुणिराओ ।।९६।।

अन्वयार्थ – जो (**अवियप्पो**) विकल्परहित (**णिद्दंदो**) निर्द्वन्द्व (**णिम्मोहो**) मोहरहित (**णिक्कलंकओ**) निष्कलंक (**णियदो**) नियत (**णिम्मलसहावजुदो**) निर्मल स्वभाव वाला, और (**जोई**) योगी होता है (**सो**) वह (**मुणिराओ**) मुनिराज (**होदि**) होता है ।

अर्थ – जो विकल्परहित, निर्द्वन्द्व, मोहरहित, निष्कलंक, नियत, निर्मल स्वभाव वाला और योगी होता है, वह मुनिराज होता है ।

असंयमी मुनि दीर्घ संसारी होता है–

दंडत्तय सल्लत्तय, मंडिदमाणो असूयगो साहू।
भंडण-जायणसीलो, हिंडदि सो दीहसंसारे ॥९९॥

अन्वयार्थ – जो (**साहू**) साधु (**दंडत्तय**) तीन दण्ड–मन, वचन, काय को वश में नहीं करता, (**सल्लत्तय**) तीन शल्य–माया, मिथ्यात्व, निदान इनसे युक्त (**मंडिदमाणो**) अभिमानी (**असूयगो**) ईर्ष्यालु और (**भंडण जायणसीलो**) कलह करने वाला, याचना करने वाला है (**सो**) वह (**दीहसंसारे**) दीर्घ संसार में (**हिंडदि**) भ्रमण करता है।

अर्थ – जो साधु तीन दण्ड (मन, वचन, काय को वश में न रखना), तीन शल्य (माया, मिथ्यात्व, निदान) से युक्त, अभिमानी, ईर्ष्यालु, कलह करने वाला और याचना करने वाला है, वह दीर्घ संसार मे भ्रमण करता है।

सम्यक्त्वहीन साधु की पहचान–

देहादिसु अणुरत्ता, विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
आदसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥१००॥

अन्वयार्थ–(**देहादिसु अणुरत्ता**) देह आदि में अनुरक्त (**विसयासत्ता**) विषयों में आसक्त (**कसायसंजुत्ता**) कषाय से युक्त (**आदसहावे सुत्ता**) आत्म-स्वभाव में सोये हुए प्रमादी है (**ते साहू**) ऐसे साधु (**सम्मपरिचत्ता**) सम्यक्त्व से रहित है ।

अर्थ–देह आदि में अनुरक्त, विषयों मे आसक्त, कषाय से युक्त, आत्म-स्वभाव में सोये हुए (प्रमादी)–ऐसे साधु सम्यक्त्व से रहित है।

जैनधर्म के विराधक साधुओं के लक्षण—

आरंभे धणधण्णे, उवयरणे कंखिया तहासूया।
वयगुणसीलविहीणा, कसायकलहप्पिया मुहरा ॥१०१॥

संघविरोहकुसीला, सच्छंदा रहियगुरुकुला मूढा।
रायादिसेवया ते, जिणधम्मविराहया साहू ॥१०२

अन्वयार्थ — जो (**साहू**) साधु (**आरंभे**) आरम्भ में (**धणधण्णे**) धन-धान्य में (**उवयरणे**) उपकरणों में (**कंखिया**) आकांक्षा रखते है (**तहा**) तथा (**असूया**) ईर्ष्यालु है (**वयगुणसीलविहीणा**) व्रत, गुण, शील से रहित है (**कसायकलहप्पिया**) कषायप्रिय और कलहप्रिय हैं (**मुहरा**) वाचाल है (**संघविरोहकुसीला**) संघ का विरोध करते हैं, कुशील है (**सच्छंदा**) स्वच्छन्द है (**रहियगुरुकुला**) गुरु के समीप नही रहते है (**मूढा**) अज्ञानी है (**रायादिसेवया**) राजा आदि की सेवा करते है (**ते**) वे साधु (**जिणधम्मविराहया**) जैनधर्म के विराधक है।

अर्थ — जो साधु आरम्भ, धन-धान्य, उपकरणों में आकांक्षा रखते हैं तथा ईर्ष्यालु है, व्रत, गुण, शील से रहित है, कषायप्रिय और कलहप्रिय है; वाचाल हैं; संघ का विरोध करते हैं, कुशील हैं; स्वच्छन्द है; गुरु के समीप नहीं रहते है; अज्ञानी है और राजा आदि की सेवा करते हैं, वे साधु जैनधर्म के विराधक है।

साधुओं के लिए दूषण योग्य कार्य–

जोइस-वेज्जा-मंतोवजीवणं वायवस्स ववहारं।
धणधण्णपरिग्गहणं समणाणं दूसणं होदि ॥१०३॥

अन्वयार्थ – (**जोइस-वेज्जा-मंतोवजीवणं**) ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र विद्या द्वारा उपजीविका चलाना (**वायवस्स ववहारं**) वात विकार का व्यापार–भूत-प्रेत की झाड़-फूंक का व्यापार (**धणधण्णपरिग्गहणं**) धन-धान्य का प्रतिग्रहण करना–ये काम (**समणाणं**) श्रमण मुनियों के लिए (**दूसणं**) दोष (**होदि**) होते हैं।

अर्थ–ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र-विद्या द्वारा उपजीविका चलाना, भूत-प्रेत की झाड़-फूंक का व्यापार करना, धन-धान्य का प्रतिग्रहण करना–ये काम श्रमण मुनियों के लिए दूषण स्वरूप हैं।

जे पावारंभरदा, कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोयववहारपउरा, ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥१०४॥

अन्वयार्थ – (जे) जो (पावारंभरदा) पाप और आरम्भ में रत हैं (कसायजुत्ता) कषाययुक्त हैं (परिग्गहासत्ता) परिग्रह में आसक्त हैं (लोयववहारपउरा) लोक-व्यवहार में बहुत निमग्न हैं (ते साहू) वे साधु (सम्मउम्मुक्का) सम्यक्त्व से रहित हैं।

अर्थ – जो साधु पाप और आरम्भ में रत हैं, कषाय-युक्त हैं, परिग्रह में आसक्त हैं, और लोक-व्यवहार में बहुत निमग्न हैं, वे सम्यक्त्व से रहित हैं।

सम्यक्त्वहीन साधु–

ण सहंति इदरदप्पं, थुवंति अप्पाणमप्पमाहप्पं।
जिब्हणिमित्तं कुणंति, कज्जं ते साहु सम्मउम्मुक्का ।।१०५।।

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – जो (**साहु**) साधु (**इदरदप्पं**) दूसरों के बड़प्पन को (**ण सहंति**) नही सहते है (**अप्पाणं**) अपनी; और (**अप्पमाहप्पं**) अपने माहात्म्य की (**थुवंति**) प्रशंसा करते रहते हैं (**जिब्हणिमित्तं**) जिह्वा के लिए (**कज्जं**) कार्य (**कुणंति**) करते है (**ते**) वे साधु (**सम्मउम्मुक्का**) सम्यक्त्व-रहित हैं।

अर्थ – जो साधु दूसरो के बड़प्पन को सहन नही करते है, अपनी और अपने माहात्म्य की प्रशंसा करते हैं और जिह्वा के लिए कार्य करते हैं, वे सम्यक्त्व से रहित है।

पापी धर्मात्मा से द्वेष करता है—

चम्मट्ठि-मंसलवलुद्धो सुणहो गज्जदे मुणि दिट्ठा।
जह तह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो ॥१०६॥

अन्वयार्थ – (जह) जैसे (चम्मट्ठि-मंसलवलुद्धो) चर्म, अस्थि और मांस खण्ड का लोभी (सुणहो) कुत्ता (मुणि) मुनि को (दिट्ठा) देखकर (गज्जदे) भोंकता है (तह) उसी प्रकार (पाविट्ठो) जो पापी है (सो) वह (सगीयट्ठो) स्वार्थवश (धम्मिट्ठं) धर्मात्मा को (दिट्ठा) देखकर भोंकता है, कलह करता है।

अर्थ – जैसे चर्म, अस्थि और मांस-खण्ड का लोभी कुत्ता मुनि को देखकर भोंकता है, इसी प्रकार जो पापी है, वह स्वार्थवश धर्मात्मा को देखकर कलह करता है।

मोक्ष-मार्ग में रत साधु—

भुञ्जेदि जहालाहं, लहेदि जइ णाणसंजमणिमित्तं।
झाणज्झयणणिमित्तं, अणयारो मोक्खमग्गरदो ॥१०७॥

अन्वयार्थ— (**जइ**) साधु (**जहालाहं**) यथालाभ/जो प्राप्त हो गया (**भुञ्जेदि**) भोजन करता है (**णाणसंजमणिमित्तं**) ज्ञान और संयम की वृद्धि के लिए तथा (**झाणज्झयणणिमित्तं**) ध्यान और अध्ययन के निमित्त (**लहेदि**) ग्रहण करता है (**अणयारो**) वह साधु (**मोक्खमग्गरदो**) मोक्ष-मार्ग मे रत है।

अर्थ— जो साधु यथालाभ (जो प्राप्त हो गया) भोजन (आहार) करता है, ज्ञान और संयम की वृद्धि के लिए तथा ध्यान और अध्ययन के निमित्त; वह मोक्ष-मार्ग मे रत है।

मुनि-चर्या के भेद–

उदरग्गियसमण-मक्खमक्खण-गोयार-सब्भपूरण-भमरं ।
णाऊण तप्पयारे, णिच्चेवं भुञ्जदे भिक्खू ॥१०८॥

अन्वयार्थ – (**उदरग्गियसमण-मक्खमक्खण-गोयार-सब्भपूरण-भमरं**) उदराग्निशमन, अक्षम्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी (**तप्पयारे**) मुनि-चर्या के इन भेदों को (**णाऊण**) जानकर (**भिक्खू**) भिक्षु/साधु (**णिच्चेवं**) नित्य ही (**भुञ्जदे**) आहार ग्रहण करता है ।

अर्थ – उदराग्निशमन, अक्षम्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी– मुनिचर्या के इन भेदों को जानकर साधु नित्य ही आहार ग्रहण करता है।

विधि – आचार्यों ने मुनियों के आहार की गाथा मे वर्णित पाँच विधियाँ बतायी हैं–

१. उदराग्निशमन – जितने आहार से उदर की अग्नि शान्त हो जाए, उतना ही आहार लेना ।
२. अक्षम्रक्षण – जैसे गाड़ी को चलाने के लिए उसकी धुरी पर तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार इस शरीर को मोक्ष-मार्ग में चलाने के लिए आहार लेना ।
३. गोचरी – जैसे गाय की दृष्टि चारे पर रहती है, चारा डालने वाले की सुन्दरता या आभूषणों पर नही, इसी प्रकार मुनि की दृष्टि आहार पर रहती है, देने वाले की गरीबी-अमीरी पर नही ।
४. श्वभ्रपूरण – इस पेट को सरस-नीरस चाहे जैसे आहार से भर लेना, जैसे गड्ढा कूड़े मिट्टी से भरते है ।
५. भ्रामरी – जैसे भ्रमर फूलों को कष्ट न देते हुए रस ग्रहण करता हैं, ऐसे ही गृहस्थ को कष्ट न देते हुए आहार ग्रहण करना ।

धर्म-साधन के लिए मुनि आहार लेता है–

रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुइचम्ममयमणिच्चमचेदणं पडणं ॥१०९॥

(गाहा)

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहं ।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसदे भिक्खू ॥११०॥

(गाहिणी)

अन्वयार्थ – (**देहं**) शरीर (**रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूय-किमिबहुलं**) रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, मल, मूत्र, पीव और कीडों से भरा हुआ है (**दुग्गंधं**) दुर्गन्धियुक्त (**असुइ**) अपवित्र (**चम्ममयं**) चर्ममय (**अणिच्च**) अनित्य (**अचेदणं**) अचेतन (**पडणं**) पतनशील/नाशवान (**बहुदुक्खभायणं**) अनेक प्रकार के दुक्खों का पात्र (**कम्मकारणं**) कर्मास्रव का कारण (**अप्पणो भिण्णं**) आत्मा से भिन्न है (**तं देहं**) उस देह को (**धम्माणुट्ठाणकारणं**) धर्मानुष्ठान का कारण है (**चेदि**) यह मानकर (**भिक्खू**) भिक्षु/साधु (**पोसदे**) पालन-पोषण करता है ।

अर्थ – यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, मल, मूत्र, पीव और कीड़ों से भरा हुआ, दुर्गन्धियुक्त, अपवित्र, चर्ममय, अनित्य, अचेतन, नाशवान, अनेक प्रकार के दुक्खों का पात्र, कर्मास्रव का कारण और आत्मा से भिन्न है । (यह देह) धर्मानुष्ठान का कारण है, यह मानकर साधु उस देह का पालन-पोषण करता है ।

मुनि शरीर-पुष्टि के लिए आहार नहीं लेता–

संजमतवझाणज्झयणविण्णाणए गिण्हदे पडिग्गहणं।
वज्जदि गिण्हदि भिक्खू, ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं ॥१११॥

अन्वयार्थ – (**भिक्खू**) साधु (**संजमतवझाणज्झयणविण्णाणए**) संयम, तप, ध्यान, अध्ययन और विज्ञान के लिए (**पडिग्गहणं**) प्रतिग्रहण/आहार (**गिण्हदे**) ग्रहण करता है–वह यदि (**वज्जदि**) इन कारणों को छोड़ता है और (**गिण्हदि**) शरीर-पुष्टि के लिए आहार ग्रहण करता है तो वह (**दुक्खं**) दुःख को (**वज्जिदुं**) छोड़ने में (**ण सक्कदे**) समर्थ नहीं होता।

अर्थ – साधु सयम, तप, ध्यान, अध्ययन और विज्ञान (वीतराग-विज्ञान) के लिए आहार ग्रहण करता है। (जो साधु इन कारणों को) छोड़ता है (और शरीर-पुष्टि के लिए) आहार ग्रहण करता है, वह दुःख को छोड़ने में समर्थ नही होता।

मलिन परिणामों से आहार लेने वाला साधु नहीं है–

कोहेण य कलहेण य, जायणसीलेण संकिलेसेण ।
रुद्देण य रोसेण य, भुञ्जदि किं वितरो भिक्खू ।।११२।।

अन्वयार्थ – जो साधु (**कोहेण य**) क्रोध से (**कलहेण य**) कलह करके (**जायणसीलेण**) याचना करके (**संकिलेसेण**) संक्लेश परिणामों से (**रुद्देण य**) रौद्र परिणामों से (**रोसेण य**) और रुष्ट होकर (**भुञ्जदि**) आहार ग्रहण करता है–वह (**किं भिक्खू**) क्या साधु है– वह तो (**वितरो**) व्यन्तर है ।

अर्थ – (जो साधु) क्रोध से, कलह करके, याचना करके, संक्लिष्ट परिणामों से, रौद्र परिणामों से और रुष्ट होकर आहार ग्रहण करता है, वह क्या साधु है ? वह तो व्यन्तर है ।

मुनि शुद्ध आहार ग्रहण करता है–

दिव्वुत्तरणसरिच्छं, जाणिच्चाहो धरेवि जवि सुद्धो।
तत्तायसपिंडसमं, भिक्खू तुह पाणिगयपिंडं ॥११३॥

अन्वयार्थ – (**अहो भिक्खू**) हे मुने (**जवि**) यदि (**तुह पाणिगयपिंडं**) तेरे हाथ पर रक्खा हुआ आहार (**तत्तायसपिंडसमं**) तपे हुए लोहे के पिण्ड के समान (**सुद्धो**) शुद्ध है–तो उसे (**दिव्वुत्तरण सरिच्छं**) दिव्य नौका के समान (**जाणिच्चा**) जानकर (**धरेवि**) ग्रहण कर।

अर्थ – हे मुने ! यदि तेरे हाथ पर रक्खा हुआ आहार तपे हुए लोहे के पिण्ड के समान शुद्ध है तो उसे दिव्य नौका के समान जानकर ग्रहण कर।

पात्र अनेक प्रकार के हैं–

अविरद-देस-महव्वय, आगमरुइणं वियारतच्चण्हं ।
पत्तंतरं सहस्सं, णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।।११४।।

अन्वयार्थ – (**जिणवरिंदेहिं**) जिनेन्द्रदेव ने (**अविरद-देस-महव्वय**) अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रती मुनि (**आगमरुइणं**) आगम में रुचि रखने वाले; और (**वियारतच्चण्हं**) तत्त्व-विचारकों के भेद से (**पत्तंतरं सहस्सं**) हजारों प्रकार के पात्र (**णिद्दिट्ठं**) बताये है ।

अर्थ – जिनेन्द्रदेव ने अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रती मुनि, आगम मे रुचि रखने वाले और तत्त्व-विचारकों के भेद से हजारों प्रकार के पात्र बताये हैं ।

मुनि उत्तम पात्र है—

उवसमणिरीहझाणज्झयणादि महागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा, उत्तमपत्ता तहा भणिदा॥११५॥

अन्वयार्थ – (**जेसिं**) जिन मुनियों में (**उवसमणिरीहझाणज्झयणादि**) उपशम, निरीहता, ध्यान, अध्ययन आदि (**महागुणा**) महान् गुण (**जहा**) जैसे (**दिट्ठा**) देखे गये (**तहा**) उसी प्रकार (**ते मुणिणाहा**) वे मुनिराज (**उत्तमपत्ता**) उत्तम पात्र (**भणिदा**) कहे गये हैं।

अर्थ – जिन मुनियों में उपशम, निरीहता, ध्यान, अध्ययन आदि महान् गुण जैसे देखे गये, उसी प्रकार वे मुनिराज उत्तम पात्र कहे गये हैं।

भावार्थ – इन गुणों की जैसी-जैसी वृद्धि होती जाती है, वैसी-वैसी पात्रता बढ़ती जाती है।

आत्मज्ञान के बिना तप संसार का कारण है–

ण वि जाणदि जिणसिद्धसरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं ।
जो तिव्वं कुणदि तवं, सो हिंडदि दीहसंसारे ।।११६।।

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**जिणसिद्धसरूवं**) जिन-अरहन्त और सिद्ध का स्वरूप (**तह**) तथा (**णियप्पाणं**) अपनी आत्मा को (**वि**) भी (**तिविहेण**) तीन भेद से–बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, (**ण जाणदि**) नही जानता है; और (**तिव्वं**) तीव्र (**तवं**) तप (**कुणदि**) करता है (**सो**) वह (**दीहसंसारे**) दीर्घ संसार में (**हिंडदि**) भ्रमण करता है।

अर्थ – जो अरहन्त और सिद्ध का स्वरूप तथा (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा) तीन प्रकार के भेद से अपनी आत्मा को भी नहीं जानता, वह दीर्घ संसार मे भ्रमण करता है ।

पात्र-विशेष के लक्षण–

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिस्सल्लो ।
पत्तविसेसो भणिदो, सो गुणहीणो दु विवरीदो ॥११७॥

(चपला)

सम्मादिगुणविसेसं, पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं ।
तं जाणिदूण देदि सुदाणं जो सो हु मोक्खरदो ॥११८॥

(गाहा)

अन्वयार्थ – (**दंसणसुद्धो**) निर्दोष सम्यग्दर्शन वाले (**धम्मज्झाणरदो**) धर्मध्यान में रत (**संगवज्जिदो**) परिग्रह-रहित (**णिस्सल्लो**) तीन शल्यों से रहित (**पत्तविसेसो**) विशेष पात्र (**भणिदो**) कहा गया है (**गुणहीणो**) जो इन गुणों से रहित है (**सो दु**) वह तो (**विवरीदो**) विपरीत/अपात्र है ।

(**सम्मादिगुणविसेसं**) जिसमें सम्यक्त्वादि विशेष गुण हैं–वह (**जिणेहि**) जिनेन्द्रदेव ने (**पत्तविसेसं**) विशेष पात्र (**णिद्दिट्ठं**) कहा है (**जो**) जो व्यक्ति (**तं**) उस पात्र-विशेष को (**जाणिदूण**) जानकर (**सुदाणं**) सुदान (**देदि**) देता है (**सो हु**) वह निश्चय से (**मोक्खरदो**) मोक्ष-मार्ग में रत है।

अर्थ – निर्दोष सम्यग्दर्शन वाले, धर्मध्यान में रत, परिग्रहरहित और तीन शल्यों (माया, मिथ्यात्व, निदान) से रहित विशेष पात्र कहे गये हैं । जो इन गुणों से रहित है, वह तो विपरीत (अपात्र) है ।

जिसमें सम्यक्त्वादि विशेष गुण हैं, उसे जिनेन्द्रदेव ने विशेष पात्र कहा है। जो व्यक्ति उस पात्र विशेष को जानकर सुदान देता है, वह निश्चय से मोक्ष-मार्ग में रत है।

रत्नत्रय दो प्रकार का है-

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणदि सो।
जं कीरदि तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥११९॥

अन्वयार्थ - (जो) जो (णिच्छयववहारसरूवं) निश्चय और व्यवहार स्वरूप वाले (रयणत्तयं) रत्नत्रय को (ण जाणदि) नहीं जानता है (सो) वह (जं) जो (कीरदि) करता है (तं सव्वं) वह सब (मिच्छारूवं) मिथ्यारूप है (जिणुद्दिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अर्थ - जो निश्चय और व्यवहार स्वरूप वाले रत्नत्रय को नहीं जानता है, वह जो करता है, वह सब मिथ्यारूप है, यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और तप भव-बीज हैं—

किं जाणिऊण सयलं, तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं ।
सम्मविसोहिविहीणं, णाणतवं जाण भवबीयं ॥१२०॥

अन्वयार्थ – (सयलं) सम्पूर्ण (तच्चं) तत्त्व को (जाणिऊण) जानकर भी (किं) क्या—लाभ है (च) और (बहुलं) बहुत (तवं) तप (किच्चा) करके भी (किं) क्या लाभ है (सम्मविसोहिविहीणं) सम्यक्त्व की विशुद्धि से विहीन (णाणतवं) ज्ञान और तप को (भवबीयं) संसार का बीज (जाण) जानो ।

अर्थ – सम्पूर्ण तत्त्व को जानकर (भी) क्या (लाभ है) और बहुत तप करके (भी) क्या (लाभ है) सम्यक्त्व की विशुद्धि से विहीन ज्ञान और तप को संसार का बीज (कारण) जानो ।

सम्यक्त्व के बिना चारित्र संसार का कारण है-

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं तवं छडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं, सम्म विणा जाण भवबीयं ॥१२१॥

अन्वयार्थ – (वयगुणसील परीसहजयं) व्रत, गुण, शील, परीषह-जय (चरियं) चारित्र (तवं) तप (छडावसयं) षट् आवश्यक (च) और (झाणज्झयणं) ध्यान और अध्ययन (सव्वं) सब (सम्मविणा) सम्यक्त्व के बिना (भवबीयं) भव-बीज (जाण) जानो।

अर्थ – व्रत, गुण, शील, परीषह-जय, चारित्र, तप, षट् आवश्यक, ध्यान और अध्ययन यह सब सम्यक्त्व के बिना भव-बीज (संसार का कारण) जानो।

चाह से परलोक बिगड़ता है–

खाई-पूया-लाहं, सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
इच्छसि जदि परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोयं ॥१२२॥

अन्वयार्थ – (**जोई**) हे योगी (**जदि**) यदि (**परलोयं**) परलोक को (**इच्छसि**) चाहता है–तो (**खाई-पूया-लाहं**) ख्याति, पूजा, लाभ (**सक्काराइं**) सत्कार आदि (**किमिच्छसे**) क्यों चाहता है (**तेहिं**) उनसे (**किं**) क्या (**तुज्झ**) तुझे (**परलोयं**) परलोक, अच्छा लोक मिलेगा ?

अर्थ – हे योगी ! यदि तू परलोक चाहता है तो ख्याति, पूजा, लाभ, सत्कार आदि क्यों चाहता है; इनसे तुझे क्या परलोक (अच्छा लोक) मिलेगा ?

आत्म-रुचि से निर्वाण होता है–

कम्मादविहाव सहावगुणं जो भाविदूण भावेण।
णिय सुद्धप्पा रुच्चवि, तस्सय णियमेण होदि णिव्वाणं ॥१२३॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**जो**) जो मुनि (**कम्मादविहावसहावगुणं**) कर्मजनित विभाव भाव तथा उनके नाश से आत्मा के स्वाभाविक गुणों को (**भावेण**) भावपूर्वक (**भाविदूण**) मनन करके (**णियसुद्धप्पा**) निज शुद्धात्मा में (**रुच्चवि**) रुचि करता है (**तस्स य**) उसका (**णियमेण**) नियम से (**णिव्वाणं**) निर्वाण (**होदि**) होता है।

अर्थ–जो मुनि कर्मजनित विभाव-भाव (रागद्वेष आदि) तथा (उनके नाश से) आत्मा के (क्षमादि) स्वाभाविक गुणों का भावपूर्वक मनन करके निज शुद्धात्मा में रुचि करता है, उसका नियम से निर्वाण होता है।

कर्मों से मुक्त जीव तत्त्वों को जानता है–

मूलुत्तरुत्तरुत्तर, दव्वादो भावकम्मदो मुक्को।
आसव-बंधण-संवर-णिज्जर जाणेदि किं बहुणा ॥१२४॥

अन्वयार्थ – **(मूलुत्तरुत्तरुत्तर दव्वादो)** मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ और उत्तरोत्तर प्रकृति रूप द्रव्यकर्म से **(भावकम्मदो)** भावकर्म से **(मुक्को)** मुक्त जीव **(आसव-बंधणा-संवर-णिज्जर)** आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा **(जाणेदि)** जानता है **(बहुणा)** वहुत कहने से **(किं)** क्या लाभ है ?

अर्थ – कर्मों की मूल प्रकृतियाँ (ज्ञानावरणादि), उत्तर प्रकृतियाँ (मति-ज्ञानावरणादि) और उत्तरोत्तर (अवग्रहादि) रूप द्रव्य कर्म से (तथा रागद्वेषादि) भावकर्म से मुक्त जीव आस्रव, बन्ध, संवर, और निर्जरा तत्त्वों को जानता है। वहुत कहने से क्या लाभ है ?

विषय विरक्त मुनि मुक्त होता है–

विसयविरत्तो मुञ्चदि, विसयासत्तो ण मुञ्चदे जोई।
बहिरंतरपरमप्पाभेदं आणाहि किं बहुणा ॥१२५॥

अन्वयार्थ – (**विसयविरत्तो**) विषयों से विरक्त (**जोई**) योगी (**मुञ्चदि**) कर्मों से छूटता है (**विसयासत्तो**) विषयों में आसक्त (**ण मुञ्चदे**) नहीं छूटता (**बहिरंतरपरमप्पाभेदं**) आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा–इन तीन भेदों को (**आणाहि**) जानो (**बहुणा**) बहुत कहने से (**किं**) क्या लाभ है ?

अर्थ – विषयों से विरक्त योगी कर्मों से छूटता है, विषयों में आसक्त नहीं छूटता। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों (के स्वरूप) को जानो। बहुत कहने से क्या लाभ है ?

बहिरात्मा का लक्षण–

णियअप्पणाणझाणज्झयणसुहामियरसायणं पाणं ।
मोत्तूणक्खाणसुहं, जो भुञ्जदि सो हु बहिरप्पा ॥१२६॥

अन्वयार्थ – (जो) जो मनुष्य (णियअप्पणाणझाणज्झयण सुहामियरसायणं पाणं) अपनी आत्मा के ज्ञान, ध्यान, अध्ययन और सुखामृत रसायन का पान (मोत्तूण) छोड़कर (अक्खाणसुहं) इन्द्रियों का सुख (भुञ्जदि) भोगता है (सो) वह (हु) निश्चय से (बहिरप्पा) बहिरात्मा है ।

अर्थ – जो मनुष्य अपनी आत्मा के ज्ञान, ध्यान, अध्ययन और सुख रूपी अमृत रसायन का पान छोड़कर इन्द्रियों का सुख भोगता है, वह निश्चय से बहिरात्मा है ।

इन्द्रिय-विषय दुःख-परिणामी हैं-

किंपायफलं पक्कं, विसमिस्सिद मोदगिंदवारुणसोहं ।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं, जह तह जाणक्खसोक्खं पि ।।१२७।।

(चपला)

अन्वयार्थ – (**जह**) जैसे (**पक्कं**) पका हुआ (**किंपायफलं**) किंपाक फल (**विसमिस्सिदमोदगिंदवारुणसोहं**) विषमिश्रित मोदक, इन्द्रायण फल देखने में सुन्दर होते हैं (**जिब्भसुहं**) जीभ को सुख देते हैं (**दिट्ठिपियं**) देखने में भी प्रिय लगते हैं (**तह**) उसी प्रकार **अक्खसोक्खं पि**) इन्द्रिय-सुखों को भी (**जाण**) जानो।

अर्थ – जैसे पका हुआ किंपाक फल, विषमिश्रित मोदक और इन्द्रायण फल देखने में सुन्दर होते है, जीभ को भी सुख देते हैं, दृष्टि को भी प्रिय लगते हैं (किन्तु परिणाम में दुःखदायी होते हैं), उसी प्रकार इन्द्रिय-सुखों को भी जानो।

पर को निज मानने वाला बहिरात्मा है—

देहकलत्तं पुत्तं, मित्ताइ विहावचेदणारूवं।
अप्पसरूवं भावदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा ॥१२८॥

अन्वयार्थ — जो मनुष्य (**देहकलत्तं**) शरीर, स्त्री (**पुत्तं**) पुत्र (**मित्ताइ**) मित्र आदि (**विहावचेदणारूवं**) विभाव चेतना राग-द्वेष आदि को (**अप्पसरूवं**) आत्मस्वरूप (**भावदि**) भाता है (**सो चेव**) वही (**बहिरप्पा**) बहिरात्मा (**हवेदि**) होता है।

अर्थ — (जो मनुष्य) शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि और विभाव चेतना (राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणामों) को आत्मस्वरूप भाता है/मानता है, वही बहिरात्मा है।

विषयों में सुख मानने वाला बहिरात्मा है-

इंदियविसयसुहादिसु, मूढमदी रमदि ण लहदि तच्चं।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा ॥१२९॥

अन्वयार्थ - (**मूढमदी**) अज्ञानी जीव (**इंदियविसयसुहादिसु**) इन्द्रिय-विषयों के सुख में (**रमदि**) रम जाता है (**बहुदुक्खं**) ये इन्द्रिय-विषय बहुत दुःखदायी हैं (**इदि**) यह (**ण चिंतदि**) विचार नहीं करता-वह (**तच्चं**) तत्त्व को (**ण लहदि**) प्राप्त नहीं करता (**सो चेव**) वही (**बहिरप्पा**) बहिरात्मा (**हवेदि**) होता है।

अर्थ- जो अज्ञानी जीव इन्द्रिय-विषयो के सुख में रम जाता है। ये इन्द्रिय-विषय बहुत दुःखदायी हैं, इस बात का विचार नहीं करता। वह आत्म-तत्त्व को नहीं पाता। वही जीव बहिरात्मा होता है।

इन्द्रिय-विषयों को दुःखदायी न मानने वाला बहिरात्मा है—

जं जं अक्खाणसुहं, तं तं तिव्वं करेदि बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा ॥१२०॥

अन्वयार्थ— (जं जं) जितने (अक्खाणसुहं) इन्द्रिय-सुख है (तं तं) वे सब (अप्पाणं) आत्मा को (तिव्वं) तीव्र (बहुदुक्खं) अनेक प्रकार के दुःख (करेदि) देते हैं (इदि) इस प्रकार जो (ण चिंतदि) विचार नहीं करता (सो चेव) वही (बहिरप्पा) बहिरात्मा (हवेदि) होता है।

अर्थ— इन्द्रियों के जितने सुख हैं, वे सब आत्मा को अनेक प्रकार के तीव्र दुःख देते हैं। इस बात का जो विचार नहीं करता, वही बहिरात्मा होता है।

बहिरात्मा की रुचि इन्द्रिय-विषयों में रहती है—

जेसि अमेज्झमज्झे, उप्पण्णाणं हवेदि तत्थ रुई।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय-विसएसु होदि मदी ॥१३१॥

अन्वयार्थ — (जेसि) जैसे (अमेज्झमज्झे) विष्टा में (उप्पण्णाणं) उत्पन्न हुआ कीड़ा—उसकी (रुई) रुचि (तत्थ) उसी विष्टा में (हवेदि) होती है (तह) उसी प्रकार (बहिरप्पाणं) बहिरात्मा की (मदी) बुद्धि (बहिरिंदिय-विसएसु) बाह्य इन्द्रिय-विषयों में (होदि) होती है।

अर्थ — जैसे विष्टा में उत्पन्न हुए कीड़े की रुचि उसी विष्टा में होती है, उसी प्रकार बहिरात्मा की बुद्धि बाह्य इन्द्रिय-विषयों में होती है।

बहिरात्मा को विवेक नहीं होता–

पूयसूयरसाणाणं, खारामियभक्खभक्खणाणं पि ।
मणु जाइ जहा मज्झे, बहिरप्पाणं तहा णेयं ।।१३२।।

अन्वयार्थ – (जहा) जैसे (मणु जाइ) मनुष्य जाति (पूयसूयरसाणाणं) अपवित्र और खाने योग्य रसों में (खारामिय भक्खभक्खणाणं पि) क्षार और अमृत, भक्ष्य और अभक्ष्य के (मज्झे) मध्य विवेक नही करती (तहा) उसी प्रकार (बहिरप्पाणं) बहिरात्मा को (णेयं) जानना चाहिये ।

अर्थ – जैसे मनुष्य-जाति अपवित्र (अखाद्य) और खाद्य रसो, क्षार और अमृत, भक्ष्य और अभक्ष्य के मध्य (विवेक नहीं करती), उसी प्रकार बहिरात्मा को जानना चाहिये (वह भी आत्मा और अनात्मा के मध्य विवेक नहीं करता) ।

अन्तरात्मा की पहचान–

सिविणे वि ण भुञ्जदि विसयाइं देहाविभिण्णभावमदी।
भुञ्जदि णियप्पस्वो, सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो ॥१३३॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**देहाविभिण्णभावमदी**) जो आत्मा को देहादि से भिन्न मानने वाला है (**सिविणे वि**) जो स्वप्न में भी (**विसयाइं**) विषयादि को (**ण भुञ्जदि**) नहीं भोगता है। (**णियप्पस्वो**) आत्मा के निज स्वरूप का (**भुञ्जदि**) अनुभव करता है (**दु**) और (**सिवसुहरत्तो**) शिव-सुख में लीन रहता है (**सो**) वह (**मज्झिमप्पो**) मध्यमात्मा-अन्तरात्मा होता है।

अर्थ – जो आत्मा को देहादि से भिन्न मानता है; जो स्वप्न में भी विषयादि को नहीं भोगता है; जो आत्मा के निज स्वरूप का अनुभव करता है और शिव-सुख मे लीन रहता है, वह मध्यमात्मा (अन्तरात्मा) होता है।

अनादिकालीन वासना नहीं छूटती है–

मलमुत्तघडव्व चिरंवासिव दुव्वासणं ण मुञ्चेदि ।
पक्खालिद सम्मत्तजलो य णाणमियेण पुण्णो वि ॥१३४॥

अन्वयार्थ – यह जीव (**पक्खालिद सम्मत्तजलो**) सम्यक्त्व-रूपी जल से धोने पर (**य**) और (**णाणमियेण**) ज्ञानामृत से (**पुण्णो वि**) पूर्ण होने पर भी (**चिरंवासिद**) चिरकाल से दुर्वासित (**मलमुत्तघडव्व**) मलमूत्र से भरे हुए घड़े के समान (**दुव्वासणं**) दुर्वासना को (**ण मुञ्चेदि**) नहीं छोड़ता है ।

अर्थ – जैसे बहुत समय से दुर्गन्धित मल-मूत्र वाले घड़े से दुर्गन्ध नहीं छूटती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व-रूपी जल से धोने पर और ज्ञानामृत से पूर्ण होने पर भी अनादिकालीन दुर्वासना नहीं छूटती है ।

सम्यग्दृष्टि अनिच्छापूर्वक भोग भोगता है–

सम्मादिट्ठी णाणी, अक्खाणसुहं कहं पि अणुहवदि ।
केणावि ण परिहरणं, वाहीणविणासणट्ठं भेसज्जं ॥१३५॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**सम्मादिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि (**णाणी**) ज्ञानी (**कहं पि**) किसी प्रकार/अनिच्छापूर्वक (**अक्खाणसुहं**) इन्द्रियों के सुख का (**अणुहवदि**) अनुभव करता है; जैसे (**वाहीणविणासणट्ठं**) रोग दूर करने के लिए (**भेसज्जं**) औषधि (**केणावि**) किसी के द्वारा (**ण परिहरणं**) नहीं छोड़ी जाती ।

अर्थ – सम्यग्दृष्टि ज्ञानी किसी प्रकार (अनिच्छापूर्वक) इन्द्रियों के सुख का अनुभव करता है; जैसे रोग दूर करने के लिए कोई औषधि नहीं छोड़ता (इच्छा न होने पर भी रोग दूर करने के लिए औषधि लेनी पड़ती है) ।

अन्तरात्मा बनो, परमात्म-पद की भावना करो–

किं बहुणा हो तजि बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।
भजि मज्झिम परमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१३६॥

अन्वयार्थ – (किं बहुणा) अधिक कहने से क्या लाभ है (हो) हे भव्य ! (बहिरप्पसरूवाणि) बहिरात्मस्वरूप (सयलभावाणि) समस्त भावों को (तजि) छोड़ और (मज्झिमपरमप्पा) मध्यमात्मा और परमात्मा के (वत्थुसरूवाणि) यथार्थ स्वरूप सम्बन्धी (भावाणि) भावों को (भजि) भज ।

अर्थ – अधिक कहने से क्या लाभ है । (संक्षेप में) हे भव्य ! बहिरात्म-स्वरूप समस्त भावों को छोड़ और अन्तरात्मा तथा परमात्मा के वस्तुस्वरूप सम्बन्धी भावों को भज ।

बहिरात्म-भाव दुःख के कारण हैं-

चउगदि-संसारगमणकारणभूदाणि दुक्खहेदूणि ।
ताणि हवे बहिरप्पा, वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१३७॥

अन्वयार्थ – (**बहिरप्पा**) बहिरात्मा के (**वत्थुसरूवाणि भावाणि**) वस्तुस्वरूप-सम्बन्धी जो भाव हैं (**ताणि**) वे सब (**चउगदि-संसारगमणकारणभूदाणि**) चतुर्गति रूप संसार-परिभ्रमण के कारण हैं; और (**दुक्खहेदूणि**) दुःख के कारण (**हवे**) होते हैं।

अर्थ – बहिरात्मा के वस्तुस्वरूप-सम्बन्धी जो भाव हैं, वे सब चतुर्गति-रूप संसार-परिभ्रमण और दुःख के कारण हैं ।

अन्तरात्मा के भाव मोक्ष और पुण्य के कारण हैं–

मोंक्खगदिगमणकारणभूदाणि पसत्थपुण्णहेदूणि।
ताणि हवे दुविहप्पा, वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१३८॥

अन्वयार्थ – (दुविहप्पा) अन्तरात्मा और परमात्मा के (वत्थुसरूवाणि भावाणि) वस्तुस्वरूप-सम्बन्धी जो भाव हैं (ताणि) वे सब (मोंक्खगदिगमणकारणभूदाणि) मोक्षगति में ले जाने के कारण-भूत-और (पसत्थपुण्णहेदूणि) प्रशस्त पुण्य के कारण (हवे) होते हैं।

अर्थ – अन्तरात्मा और परमात्मा के वस्तुस्वरूप-सम्बन्धी जो भाव होते है वे सब मोक्षगति में ले जाने, और प्रशस्त पुण्य के कारण होते हैं।

स्व-परसमयज्ञ ही मोक्ष पाता है–

दव्वगुणपज्जयेहिं, जाणदि परसमसमयादिविभेदं।
अप्पाणं जाणदि सो, सिवगदिपहणायगो होदि ॥१३९॥

अन्वयार्थ – जो (**परसगसमयादिविभेदं**) स्वसमय और परसमय आदि के भेद को (**दव्वगुणपज्जयेहिं**) द्रव्य-गुण-पर्याय से (**जाणदि**) जानता है (**सो**) वह (**अप्पाणं**) अपनी आत्मा को (**जाणदि**) जानता है; वही (**सिवगदिपहणायगो**) शिवगति के मार्ग का नायक (**होदि**) होता है।

अर्थ – जो स्वसमय और परसमय आदि के भेद को द्रव्य-गुण-पर्यायों से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है। वह मोक्ष-मार्ग का नेता होता है।

केवल परमात्मा स्वसमय है-

बहिरंतरप्पभेदं, परसमयं भण्णदे जिणिंदेहिं।
परमप्पा सगसमयं, तब्भेदं जाण गुणठाणे ॥१४०॥

अन्वयार्थ - (**जिणिदेहि**) जिनेन्द्र भगवान ने (**बहिरंतरप्पभेदं**) बहिरात्मा और अन्तरात्मा इन भेदों को (**परसमयं**) परसमय (**भण्णदे**) कहा है (**परमप्पा**) परमात्मा (**सगसमयं**) स्वसमय है (**तब्भेदं**) उनके भेद (**गुणठाणे**) गुणस्थानों की अपेक्षा (**जाण**) जानो।

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय कहा है और परमात्मा स्वसमय है। उनके भेद गुणस्थानों की अपेक्षा जानो।

गुणस्थानों के अनुसार आत्मा का वर्गीकरण–

मिस्सो त्ति बाहिरप्पा, तरतमया तुरियं अंतरप्प जहण्णो ।
संतो त्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम जिणसिद्धा ॥१४१॥

अन्वयार्थ – (**मिस्सो**) प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान वाले (**त्ति**) ये (**बाहिरप्पा**) बहिरात्मा हैं (**तरतमया**) तरतमता से (**तुरियं**) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती (**जहण्णो**) जघन्य (**अंतरप्प**) अन्तरात्मा हैं (**संतो त्ति**) पाँचवें से उपशान्त मोह/ग्यारहवें गुणस्थान तक (**मज्झिमंतर**) मध्यम अन्तरात्मा है; (**खीणुत्तम**) क्षीणमोह/बारहवें गुणस्थान वाले उत्तम अन्तरात्मा हैं (**परमजिणसिद्धा**) जिन/तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सिद्ध परमात्मा हैं।

अर्थ – मिश्र (प्रथम, द्वितीय, तृतीय गुणस्थान वाले) बहिरात्मा हैं। तरतमता से (क्रमशः विशुद्धि की तरतमता से) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा हैं। पाँचवें से उपशान्त मोह (ग्यारहवें गुणस्थान) तक मध्यम अन्तरात्मा हैं। क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थान वाले) उत्तम अन्तरात्मा है। जिन (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती) और सिद्ध परमात्मा हैं।

दोषों के त्याग से मुक्ति होती है—

मूढत्तय सल्लत्तय, दोसत्तयदंड गारवत्तयेहिं ।
परिमुक्को जोई सो, सिवगविपहणायगो होदि ।।१४२।।

अन्वयार्थ—जो (**जोई**) योगी (**मूढत्तय**) तीन मूढ़ताओं (**सल्लत्तय**) तीन शल्यों (**दोसत्तय**) तीन दोषों (**दंड गारवत्तयेहिं**) तीन दण्डों और तीन गारवों से (**परिमुक्को**) परिमुक्त/रहित होता है (**सो**) वह (**सिवगविपहणायगो**) शिवगति के मार्ग का नायक (**होदि**) होता है ।

अर्थ—जो योगी तीन मूढ़ताओं, तीन शल्यों, तीन दोषों, तीन दण्डों और तीन गारवों से रहित होता है, वह मोक्ष-मार्ग का नेता होता है ।

आत्म-विशुद्धि से मुक्ति मिलती है-

रयणत्तय-करणत्तय-जोगत्तय-गुत्तित्तय विसुद्धेहिं।
संजुत्तो जोई सो, सिवगदिपहणायगो होदि ॥१४३॥

अन्वयार्थ – जो (**जोई**) योगी (**रयणत्तय**) रत्नत्रय (**करणत्तय**) तीन कारणों (**जोगत्तय**) तीन योगों (**गुत्तित्तय विसुद्धेहिं**) तीन गुप्तियों की विशुद्धि से (**संजुत्तो**) संयुक्त है (**सो**) वह (**सिवगदि पहणायगो**) शिवगति के मार्ग का नायक (**होदि**) होता है ।

अर्थ – जो योगी रत्नत्रय, तीन कारणों, तीन योगों, तीन गुप्तियों की विशुद्धि से युक्त है, वह मोक्ष-मार्ग का नेता होता है।

वीतराग योगी को मुक्ति मिलती है–

जिणलिंगहरो जोई, विराय-सम्मत्तसंजुदो णाणी ।
परमोवेक्खाइरियो, सिवगदिपहणायगो होदि ।।१४४।।

अन्वयार्थ – (**जिणलिंगहरो**) जिनमुद्रा का धारक (**विराय-सम्मत्तसंजुदो**) वैराग्य और सम्यक्त्व से संयुक्त (**णाणी**) ज्ञानी और (**परमोवेक्खाइरियो**) परम उपेक्षा–वीतराग भाव का धारक–ऐसा (**जोई**) योगी (**सिवगदिपहणायगो**) मोक्ष-मार्ग का नेता (**होदि**) होता है ।

अर्थ – जिनमुद्रा का धारक, वैराग्य और सम्यक्त्व से संयुक्त, ज्ञानी और परम उपेक्षा (वीतराग भाव) का धारक–ऐसा योगी मोक्ष-मार्ग का नेता होता है ।

शुद्धोपयोगी को मुक्ति मिलती है-

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोपजोयसंजुत्तो।
मूलुत्तरगुणपुण्णो, सिवगदिपहणायगो होदि ॥१४५॥

अन्वयार्थ – (**बहिरब्भंतर गंथविमुक्को**) बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से रहित (**सुद्धोपजोयसंजुत्तो**) शुद्धोपयोग से संयुक्त और (**मूलुत्तर-गुणपुण्णो**) मूल और उत्तर गुणों से युक्त योगी (**सिवगदिपहणायगो**) शिवगति के मार्ग का नायक (**होदि**) होता है।

अर्थ – बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से रहित, शुद्धोपयोग से संयुक्त और मूल एवं उत्तर गुणों से युक्त (योगी) मोक्ष-मार्ग का नेता होता है।

साधु सम्यक्त्व की साधना करता है–

जं आदिजरामरणं, दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं।
सिवसुहलाहं सम्मं, संभावदि सुणदि साहदे साहू ॥१४६॥

अन्वयार्थ – (**जं**) जो (**सम्मं**) सम्यक्त्व (**आदिजरामरणं**) जन्म, जरा, मृत्यु (**दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं**) दुःखरूपी दुष्ट विषधर सर्प के विष का नाश करने वाला है; (**सिवसुहलाहं**) शिव-सुख का लाभ कराने वाला है (**साहू**) साधु (**संभावदि**) उसी की भावना करता है (**सुणदि**) उसी के बारे में सुनता है और (**साहदे**) उसी की साधना करता है।

अर्थ – जो सम्यक्त्व जन्म-जरा-मृत्यु और दुःखरूपी दुष्ट विषधर सर्प के विष का नाश करने वाला है और मोक्ष-सुख का लाभ कराने वाला है, साधु उसी की भावना करता है, उसी के बारे में सुनता है और उसी की साधना करता है।

परमात्मा सम्यक्त्व के कारण पूज्य है—

किं बहुणा हो देविंदाहिंद-णरिंद-गणहरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे, तं जाण पहाणसम्मगुणं ॥१४७॥

अन्वयार्थ – (हो) हे भव्य ! (बहुणा किं) बहुत कहने से क्या लाभ है (जे) जो (परमप्पा) परमात्मा (देविंदाहिंद-णरिंद-गणहरिंदेहिं) देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, गणधरेन्द्रों से (पुज्जा) पूजित हैं (तं) उनमें (पहाणसम्मगुणं) सम्यक्त्व गुण की प्रधानता (जाण) जानो।

अर्थ – अहो (भव्य) ! बहुत कहने से क्या लाभ है। जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रों से पूजित हैं, उनमें सम्यक्त्व गुण की प्रधानता जानो।

पंचमकाल में उपशम सम्यक्त्व—

उवसम्मइ सम्मत्तं, मिच्छत्तबलेणं पेल्लवे तस्स।
परिवट्टंति कसाया, अवसप्पिणी कालदोसेण ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(**अवसप्पिणी कालदोसेण**) अवसर्पिणी काल के दोष से (**मिच्छत्तबलेणं**) मिथ्यात्व के उदय से (**तस्स**) जीवों का (**उवसम्मइ सम्मत्तं**) उपशम सम्यक्त्व (**पेल्लवे**) नष्ट हो जाता है, फिर (**कसाया**) कषाय (**परिवट्टंति**) पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।

अर्थ—(इस) अवसर्पिणी काल-दोष से, मिथ्यात्व के प्रबल उदय से जीवों का उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है; (और फिर) कषाय उत्पन्न हो जाते हैं।

श्रावक की ५३ क्रियाएँ–

गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाणं-जलगालणं-अणत्थमिदं।
दंसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिदा ॥१४९॥

(उग्गाहा)

अन्वयार्थ – (**गुण**) ८ मूलगुण (**वय**) १२ अणुव्रत (**तव**) १२ तप (**सम**) समता (**पडिमा**) ११ प्रतिमा (**दाणं**) ४ प्रकार के दान (**जलगालणं**) जलगालन (**अणत्थमिदं**) सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करना (**दंसण-णाण-चरित्तं**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (**सावया**) श्रावक की (**तेवण्ण किरिया**) ५३ क्रियाएँ (**भणिदा**) कही गई हैं।

अर्थ – ८ मूलगुण, १२ अणुव्रत, १२ तप, समता, ११ प्रतिमा, ४ प्रकार के दान, जलगालन, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–ये श्रावक की ५३ क्रियाएँ कही गई हैं।

ज्ञान मुक्ति का कारण है-

णाणेण झाणसिद्धी, झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१५०॥

अन्वयार्थ – (**णाणेण**) ज्ञान से (**झाणसिद्धी**) ध्यान की सिद्धि होती है; (**झाणादो**) ध्यान से (**सव्वकम्मणिज्जरणं**) समस्त कर्मों की निर्जरा होती है; (**णिज्जरणफलं**) निर्जरा का फल (**मोक्खं**) मोक्ष है; (**तदो**) अतः (**णाणब्भासं**) ज्ञानाभ्यास (**कुज्जा**) करना चाहिये।

अर्थ – ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है; निर्जरा का फल मोक्ष है; अतः ज्ञानाभ्यास करना चाहिये ।

ज्ञान-भावना से तप, संयम, वैराग्य होता है–

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो ।
सुदभावणेण तत्तिय, तम्हा सुदभावणं कुणह ॥१५१॥

अन्वयार्थ – (**कुसलस्स**) कुशल व्यक्ति के (**तवो**) तप होता है, (**णिवुणस्स**) निपुण व्यक्ति के (**संजमो**) संयम होता है, (**समपरस्स**) समताभावी के (**वेरग्गो**) वैराग्य होता है; और (**सुदभावणेण**) श्रुत की भावना से (**तत्तिय**) ये तीनों होते हैं (**तम्हा**) इसलिए (**सुद-भावणं**) श्रुत की भावना (**कुणह**) करो ।

अर्थ – कुशल व्यक्ति के तप होता है । निपुण व्यक्ति के संयम होता है । समताभावी के वैराग्य होता है और श्रुत की भावना से ये तीनों होते हैं; इसलिए श्रुत की भावना करो ।

मिथ्यात्व से संसार-परिभ्रमण है-

कालमणंतं जीवो, मिच्छत्तसरूवेण पंचसंसारे।
हिंडदि ण लहदि सम्मं, संसारब्भमणपारंभो ॥१५२॥

(चपला)

अन्वयार्थ – (जीवो) जीव (मिच्छत्तसरूवेण) मिथ्यात्व-स्वरूप होने से (अणंतं कालं) अनन्त काल से (पंचसंसारे) पंचपरावर्तन रूप संसार में (हिंडदि) भ्रमण कर रहा है; किन्तु (सम्मं) उसे सम्यक्त्व (ण लहदि) प्राप्त नहीं हुआ (संसारब्भमणपारंभो) संसार-परिभ्रमण बना हुआ है।

अर्थ – जीव मिथ्यात्व स्वरूप होने से अनन्तकाल से (अनादि काल से) पचपरावर्तन (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव) रूप संसार मे भ्रमण कर रहा है, किन्तु उसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ; अत: संसार-परिभ्रमण बना हुआ है।

सम्यग्दर्शन से सुख मिलता है–

सम्मद्दंसणसुद्धं, जाव दु लभदे हि ताव सुही।
सम्मद्दंसण सुद्धं, जाव ण लभदे हि ताव दुही ।।१५३।।

(गाहू)

अन्वयार्थ – (जाव दु) जब (सुद्धं) शुद्ध (सम्मद्दंसण) सम्यग्दर्शन (लभदे) प्राप्त कर लेता है (ताव हि) तभी (सुही) सुखी होता है (जाव) जब तक (सुद्धं) शुद्ध (सम्मद्दंसण) सम्यग्दर्शन (ण लभदे) प्राप्त नहीं कर लेता (ताव हि) तभी तक (दुही) दुखी रहता है।

अर्थ – जब शुद्ध (निर्दोष) सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, (जीव) तभी सुखी होता है। जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक (जीव) दुःखी रहता है।

सम्यक्त्व है तो सब सुख-रूप है–

किं बहुणा वयणेण दु, सव्वं दुक्खेव सम्मत्त विणा।
सम्मत्तेण विजुत्तं, सव्वं सोंक्खेव जाणं खु ॥१५४॥

अन्वयार्थ – (बहुणा वयणेण दु) बहुत कहने से (किं) क्या लाभ है (सम्मत्त विणा) सम्यक्त्व के बिना (सव्वं) सब (दुक्खेव) दुःख रूप ही है (सम्मत्तेण) सम्यक्त्व से (विजुत्तं) संयुक्त (सव्वं) सब (सोंक्खेव) सुख रूप ही है–यह (खु) निश्चय से (जाणं) जानो।

अर्थ – बहुत कहने से क्या लाभ है। सम्यक्त्व के बिना सब दुःख रूप ही है (और) सम्यक्त्व से संयुक्त सब सुख रूप ही है, यह निश्चय से जानो।

सम्यक्त्व-हीन ज्ञान और क्रिया संसार के कारण हैं—

णिक्खेवणयपमाणं, सद्दालंकारछंद लहियाणं।
णाडय पुराण कम्मं, सम्म विणा दीहसंसारं ॥१५५॥

अन्वयार्थ – (**णिक्खेव-णय-पमाणं**) निक्षेप, नय, प्रमाण (**सद्दा-लंकार**) शब्दालंकार (**छंद**) छन्द (**णाडय**) नाट्य शास्त्र (**पुराण**) पुराण इनका ज्ञान (**लहियाणं**) प्राप्त किया, (**कम्मं**) बाह्य क्रियाएँ कीं, किन्तु ये सब (**सम्म विणा**) सम्यक्त्व के बिना (**दीहसंसारं**) दीर्घ संसार के कारण होते हैं।

अर्थ – निक्षेप, नय, प्रमाण, शब्दालंकार, छन्द, नाट्य शास्त्र, पुराण–इनका ज्ञान प्राप्त किया, बाह्य क्रियाएँ की (किन्तु ये सब) सम्यक्त्व के बिना दीर्घ संसार के कारण होते है।

जब तक ममकार है, तब तक सुख नहीं—

वसदि-पडिमोवयरणे, गणगच्छे समय-संघ-जादि-कुले।
सिस्स-पडिसिस्सछत्ते, सुयजादे कप्पडे पुत्थे ॥१५६॥

पिच्छे-संथरणे इच्छासु लोहेण कुणदि ममयारं।
यावच्च अट्टरुद्दं, ताव ण मुञ्चेदि ण हु सोंक्खं ॥१५७॥

अन्वयार्थ — (**वसदि**) वसति (**पडिमोवयरणे**) प्रतिमोपकरण (**गणगच्छे**) गण-गच्छ (**समय-संघ-जादि-कुले**) शास्त्र, संघ, जाति, कुल (**सिस्स-पडिसिस्सछत्ते**) शिष्य, प्रतिशिष्य (**सुयजादे**) पुत्र-पौत्र (**कप्पडे**) वस्त्र (**पुत्थे**) पुस्तक (**पिच्छे**) पिच्छी (**संथरणे**) संस्तर (**इच्छासु**) इच्छाओं में (**लोहेण**) लोभ से (**ममयारं**) ममकार (**कुणदि**) करता है और (**यावच्च**) जबतक (**अट्टरुद्दं**) आर्त्त-रौद्र ध्यान है (**ताव**) तबतक (**ण मुञ्चेदि**) मुक्त नहीं होता (**ण हु सोंक्खं**) न सुख मिलता है।

अर्थ — वसति, प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, शास्त्र, संघ, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, पुत्र, पौत्र, वस्त्र (श्रुतपाहुड) पुस्तक, पिच्छी, संस्तर और इच्छाओं मे (जबतक) लोभ से ममकार करता है और जबतक आर्त्त-रौद्र ध्यान है, तबतक मुक्त नहीं होता और न सुख मिलता है।

निर्मल आत्मा ही समय है–

रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुणसंघावो, समओ खलु णिम्मलो अप्पा ॥१५८॥

अन्वयार्थ – (**मोक्खमग्गस्स**) मोक्ष-मार्ग में (**गमणस्स**) गमन करने वाले साधु का (**रयणत्तयमेव**) रत्नत्रय ही (**गणं**) गण है (**गच्छं**) गच्छ है (**गुणसंघावो**) गुण-समूह से (**संघो**) संघ है (**खलु**) निश्चय से (**णिम्मलो**) निर्मल (**अप्पा**) आत्मा (**समओ**) समय है ।

अर्थ – मोक्ष-मार्ग में गमन करने वाले साधु का रत्नत्रय ही गण और गच्छ है; गुणों के संघ (समूह) से संघ है और निश्चय से निर्मल आत्मा ही समय है ।

सम्यक्त्व कर्मों का नाश करता है—

मिहिरो महंधयारं, मरुदो मेहं महावणं दाहो।
वज्जो गिरिं जहा विणसिज्जदि सम्मं तहा कम्मं ॥१५९॥

(सिहनी)

अन्वयार्थ — (जहा) जैसे (मिहिरो) सूर्य (महंधयारं) गहन अन्धकार को (मरुदो) वायु (मेहं) मेघ को (दाहो) अग्नि (महावणं) विशाल वन को—और (वज्जो) वज्र (गिरिं) पर्वत को (विणसिज्जदि) नष्ट कर देता है (तहा) उसी प्रकार (सम्मं) सम्यक्त्व (कम्मं) कर्मों को—नष्ट कर देता है।

अर्थ — जैसे सूर्य गहन अन्धकार को, वायु मेघ को, अग्नि विशाल वन को और वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व कर्मों को नष्ट कर देता है।

सम्यक्त्व दीपक के समान है–

मिच्छंधयाररहिदं, हियमज्झं सम्मरयणदीवकलावं।
जो पज्जलदि स दीसदि, सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं ॥१६०॥

अन्वयार्थ – (**जो**) जो (**हियमज्झं**) अपने हृदय में (**मिच्छंधयाररहिदं**) मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार से रहित (**सम्मरयणदीवकलावं**) सम्यक्त्व-रूपी रत्नदीप-समूह को (**पज्जलदि**) प्रज्वलित करता है (**स**) वह (**लोयत्तयं**) तीनों लोकों को (**सम्मं**) भलीभाँति (**दीसदि**) देखता है (**जिणुद्दिट्ठं**) जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है।

अर्थ – जो अपने हृदय मे मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार से रहित सम्यक्त्व-रूपी रत्नदीप-समूह को प्रज्वलित करता है, वह तीनों लोकों को सम्यक् प्रकार देखता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अभ्यास–

पवयणसारब्भासं, परमप्पज्झाणकारणं जाण।
कम्मक्खवणणिमित्तं, कम्मक्खवणे हि मोक्खसुहं ॥१६१॥

अन्वयार्थ – (**पवयणसारब्भासं**) प्रवचनसार/आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अभ्यास (**परमप्पज्झाणकारणं**) परमात्मा के ध्यान का कारण है (**जाण**) ऐसा जानो; परमात्मा का ध्यान (**कम्मक्खवण-णिमित्तं**) कर्म-क्षय का कारण है (**कम्मक्खवणे**) कर्म-क्षय होने पर (**हि**) निश्चय से (**मोक्खसुहं**) मोक्ष-सुख मिलता है।

अर्थ – आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अभ्यास परमात्मा के ध्यान का कारण है, ऐसा जानो; (परमात्मा का ध्यान) कर्म-क्षय का कारण है; कर्म-क्षय होने पर निश्चय ही मोक्ष-सुख मिलता है।

धर्मध्यान से कर्मों का क्षय—

धम्मज्झाणब्भासं, करेदि तिविहेण भावसुद्धेण।
परमप्पझाणचेट्ठो, तेणेव खवेदि कम्माणि ॥१६२॥

अन्वयार्थ — जो (**तिविहेण**) मन-वचन-काय से (**भावसुद्धेण**) भाव की विशुद्धिपूर्वक (**धम्मज्झाणब्भासं**) धर्मध्यान का अभ्यास (**करेदि**) करता है—वह (**परमप्पझाणचेट्ठो***) परमात्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है (**तेणेव**) उसी से (**कम्माणि**) कर्मों को (**खवेदि**) नष्ट करता है।

अर्थ — (जो) मन, वचन, काय से भाव की विशुद्धिपूर्वक धर्मध्यान का अभ्यास करता है, वह परमात्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है। उसी से (परमात्म-ध्यान की अवस्थिति से) वह कर्मों को नष्ट करता है।

---

* चिट्ठ—स्थित करना। पा. स. म, पृ. ३२५

काललब्धि का महत्त्व—

अविसोहण जोएणं, सुद्धं हेमं हवेदि जह तह य।
कालाईलद्धीए, अप्पा परमप्पओ हवदि ॥१६३॥

अन्वयार्थ — (जह) जिस प्रकार (अविसोहण जोएणं) अतिशोधन क्रिया से (हेमं) स्वर्ण (सुद्धं) शुद्ध (हवेदि) हो जाता है (तह य) उसी प्रकार (कालाईलद्धीए) काललब्धि आदि के द्वारा (अप्पा) आत्मा (परमप्पओ) परमात्मा (हवदि) हो जाता है।

अर्थ — जिस प्रकार अतिशोधन क्रिया से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार काललब्धि आदि के द्वारा आत्मा परमात्मा हो जाता है।

सम्यक्त्व यथेच्छ सुख देता है--

कामदुहि कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परसं* ।
लद्धो भुञ्जदि सोक्खं, जहच्छियं जाण तह सम्मं ॥१६४॥

अन्वयार्थ – जिस प्रकार (**कामदुहि**) कामधेनु (**कप्पतरुं**) कल्पवृक्ष (**चिंतारयणं**) चिन्तामणि रत्न (**रसायणं**) रसायन (**परसं**) पारसमणि (**लद्धो**) प्राप्त करने वाला मनुष्य (**जहच्छियं**) यथेच्छित (**सोक्खं**) सुख (**भुञ्जदि**) भोगता है (**तह**) उसी प्रकार (**सम्मं**) सम्यक्त्व को (**जाण**) जानो ।

अर्थ – जैसे कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, रसायन और पारसमणि को प्राप्त करने वाला मनुष्य यथेच्छ सुख भोगता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व को जानो ।

---

* परस—पारसमणि — पा. स. म., पृ. ५४८

रयणसार ग्रन्थ का माहात्म्य-

सम्म णाणं वेरग्ग-तवोभावं णिरोहवित्ति-चारित्तं ।
गुणसीलसहावं तह उप्पज्जदि रयणसारमिणं ।।१६५।।

(चपला)

अन्वयार्थ – (**इणं रयणसारं**) यह रयणसार ग्रन्थ (**सम्म**) सम्यग्दर्शन (**णाणं**) ज्ञान (**वेरग्ग**) वैराग्य (**तवोभावं**) तपोभाव (**णिरोह वित्ति**) निरोह वृत्ति (**चारित्तं**) चारित्र (**तह**) तथा (**गुणसीलसहावं**) गुण, शील और आत्मस्वभाव को (**उप्पज्जदि**) उत्पन्न करता है ।

अर्थ – यह 'रयणसार' (ग्रन्थ) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, तपोभाव, निरोह वृत्ति, चारित्र, गुण, शील और आत्मस्वभाव को उत्पन्न करता है ।

ग्रन्थ की प्रशस्ति-

गंथ मिणं जिणदिट्ठं, ण हु मण्णदि ण हु सुणेदि ण हु पढदि ।
ण हु चिंतदि ण हु भावदि, सो चेव हवेदि कुदिट्ठी ॥१६६॥

अन्वयार्थ – (जिणदिट्ठं) जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित (इणं गंथ) इस ग्रन्थ को, जो (ण हु मण्णदि) न तो मानता है (ण हु सुणेदि) न सुनता है (ण हु पढदि) न पढ़ता है (ण हु चिंतदि) न चिंतन करता है (ण हु भावदि) न भावना करता है (सो चेव) वह व्यक्ति (कुदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (हवेदि) है ।

अर्थ – जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित इस ग्रन्थ को जो न तो मानता है, न सुनता है, न पढ़ता है, न चिन्तन करता है और न भावना करता है, वह मिथ्यादृष्टि है ।

उपसंहार–

इदि सज्जण पुज्जं रयणसारगंथं णिरालसो णिच्चं ।
जो पढदि सुणदि भावदि सो पावदि सासदं ठाणं ॥१६७॥

अन्वयार्थ – (**इदि**) इस प्रकार (**सज्जण पुज्जं**) सज्जनों के द्वारा पूज्य (**रयणसारगंथं**) रयणसार ग्रन्थ को (**जो**) जो व्यक्ति (**णिरालसो**) आलस्य-रहित होकर (**णिच्चं**) सदा ही (**पढदि**) पढ़ता है (**सुणदि**) सुनता है (**भावदि**) भावना करता है (**सो**) वह (**सासदं ठाणं**) शाश्वत स्थान/मोक्ष (**पावदि**) पाता है।

अर्थ – इस प्रकार सज्जनों के द्वारा पूज्य 'रयणसार' ग्रन्थ को जो व्यक्ति आलस्य-रहित होकर सदा ही पढ़ता है, सुनता है, भावना करता है, वह शाश्वत स्थान (मोक्ष) पाता है।

इति रयणसार गंथो समत्तो

गाहाणुक्कमणिका

ज | गाहा-कमांक

ण

गाहा-कमांक

□□